प्रधान संपादक—पुरातत्त्वाचार्य जिनविजय मुनि
[संमान्य संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर]

• • •

ग्रन्थाङ्क २६

महाकवि - भोलानाथ - विरचित—

कर्णकुतूहल

नाम नाटकम्

तथा

श्रीकृष्णलीलामृतकाव्यम्

• • •

प्रकाशक
राजस्थान - राज्य - संस्थापित
राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर
RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JAIPUR.
जयपुर (राजस्थान)

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान संपादक—पुरातत्त्वाचार्य, जिनविजय मुनि

[सम्मान्य संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर]



ग्रन्थाङ्क २६

महाकवि - भोलानाथ - विरचित

कर्णकुतूहल

नाम नाटकम्

तथा

श्रीकृष्णलीलामृतकाव्यम्



प्रकाशक

राजस्थान राज्य संस्थापित

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर

Rajasthan Oriental Research Institute, Jaipur

जयपुर (राजस्थान)

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान संपादक

पुरातत्त्वाचार्य, जिनविजय मुनि

[ऑनररि मैंबर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी]

सम्मान्य सदस्य

भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना; गुजरात साहित्य सभा, अहमदाबाद;
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधनप्रतिष्ठान, होशियारपुर; निवृत्त सम्मान्य नियामक-
(ऑनररि डायरेक्टर)- भारतीय विद्याभवन, बम्बई,

ग्रन्थांक २६

महाकवि-भोलानाथ-विरचित

कर्णकुतूहल

नाम नाटकम्

तथा

श्रीकृष्णलीलामृतकाव्यम्

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर

जयपुर (राजस्थान)

चैत्र
विक्रमाब्द २०१४
राष्ट्रीय शकाब्द १८७९

अप्रेल
खिस्ताब्द १९५७

महाकवि भोलानाथ विरचितं

कर्णकुतूहलम्

नाम नाटकम्

तथा

श्रीकृष्णलीलामृतकाव्यम्

संपादक

श्री गोपालनारायण बहुरा, एम. ए.

प्रकाशनकर्त्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

संचालक, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर

जयपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१४] भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८७९ [ख्रिस्ताब्द १९५७

प्रथमावृत्ति ❀ मूल्य १) रु० ५० न० पै०

मुद्रक-हनुमान प्रेस, जयपुर । कव्हर और प्रकाशकीय वक्तव्य प्रभात प्रेस, जयपुर

प्रकाशकीय वक्तव्य

राजस्थान एवं गुजरात, मालवा आदि प्रदेशों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के बिखरे हुए एवं जीर्ण-शीर्ण दशा में जो संग्रह प्राप्त होते हैं उनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं प्राचीन राजस्थानी-गुजराती भाषा में रचित छोटी-बड़ी ऐसी सैकड़ों ही साहित्यिक कृतियां उपलब्ध होती हैं जो अभी तक प्रायः अज्ञात और अप्रकाशित हैं। विद्वानों का लक्ष्य प्रायः अभी तक उन्हीं सुप्रसिद्ध और सुज्ञात ग्रन्थों के अन्वेषण एवं संशोधन की तरफ रहा है जो यत्र तत्र यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होते हैं। ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन के विषय में भी प्रायः यही प्रथा चली आ रही है। सुप्रसिद्ध और सुज्ञात ग्रन्थों के सिवाय छोटी और प्रकीर्ण रचनाओं के विषय में विद्वानों का विशेष लक्ष्य नहीं जाता है और इसीलिये अभी तक ऐसी रचनाओं के सम्पादन और प्रकाशन का मुख्य प्रयत्न प्रायः नहीं सा हुआ है। हमारे प्राचीन इतिहास एवं सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से इन फुटकर रचनाओं में जो ज्ञातव्य छिपे पड़े हैं उनकी तरफ हमारा ध्यान बिल्कुल नहीं गया है, ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर का कार्य प्रारम्भ करते समय हमारा लक्ष्य इस प्रकार के प्रकीर्ण साहित्य का अन्वेषण, संग्रह, संरक्षण, संशोधन, सम्पादन एवं प्रकाशन आदि करने का रहा है और तदनुसार राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला द्वारा ऐसी अनेकानेक साहित्यिक रचनाओं को सुयोग्य विद्वानों द्वारा शोधित और सम्पादित करा कर प्रकाश में लाने का आयोजन हमने किया है।

संस्कृत साहित्य में नाटकों का विशेष महत्त्व है। श्रव्य काव्य परम्परा में विद्वानों ने नाटकों के अनेक भेदों का वर्णन किया है। मध्यकाल में राजाओं और उनके सभासदों के प्रीत्यर्थ भी नाटक लिखे गये हैं जिनमें बहुत से अज्ञात और अप्रसिद्ध हैं। "कर्णकुतूहल" ऐसा ही एक लघु-नाटक है जो महाकवि भोलानाथ द्वारा जयपुर के महाराजा प्रतापसिंहजी के गुरु और प्रमुख परामर्श-दाता महाराजा श्री सदाशिव के प्रीत्यर्थ निर्मित है। यद्यपि इसका प्रारम्भ प्राचीन शास्त्रीय ढङ्ग से ही होता है किन्तु आगे एक आख्यायिका में पर्यवसान हो जाने से इसमें नाट्यशास्त्र के पूरे लक्षणों का निर्वाह नहीं हुआ है फिर भी एक

राजस्थानी कवि की सरल संस्कृत में रचना होने के कारण हम इस नाटक को राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के पुष्प रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। एतद्विषयक विशेष ज्ञातव्य के लिये सम्पादकीय भूमिका देखनी चाहिये।

महाकवि भोलानाथ ने संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें अब तक कोई भी प्रकाशित नहीं हुआ है और इस दृष्टि से यह कवि अभी तक अज्ञात एवं अप्रसिद्ध है। हमारे प्रवर सहकारी श्री गोपाल नारायण बहुरा ने "कर्णकुतूहल" की शोधित, सम्पादित एवं सम्बन्द्ध सन्दर्भों से युक्त प्रति तैयार करके जब हमें दिखलाई तो हमने उपयोगी जान कर इसे प्रकाशनार्थ चुन लिया। ग्रन्थकर्त्ता एवं तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक टिप्पणियों का निर्माण परिश्रम एवं गम्भीर अध्ययन के साथ किया गया है जिससे सम्पादक की साहित्यिक एवं शोध विषयक अभिरुचि का भली भांति पता चलता है और इस दृष्टि से यह कृति अधिक उपयोगी और बोधगम्य हो गई है। कवि की एक दूसरी लघु संस्कृत रचना "श्रीकृष्णलीलामृतम्" को भी जिसमें श्रीमद्भागवत के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं का वर्णन किया गया है, इसके साथ ही लगा दिया गया है। आशा है अधिकारी पाठकगण लाभ उठावेंगे।

१, ज्येष्ठ, १८७९ शकाब्द
२२, मई, १९५७ खिस्ताब्द

मुनि जिनविजय
सम्मान्य सञ्चालक,
राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर।

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर

राजस्थान सरकार द्वारा प्रस्थापित

राजस्थानमें प्राचीन साहित्यके संग्रह, संरक्षण, संशोधन और प्रकाशन कार्यका महत् प्रतिष्ठान

राजस्थानका सुविशाल प्रदेश, अनेकानेक शताब्दियोंसे भारतका एक हृदयस्वरूप स्थान बना हुआ होनेसे विभिन्न जनपदीय संस्कृतियों का यह एक केन्द्रीय एवं समन्वय भूमि सा संस्थान बना हुआ है। प्राचीनतम आदिकालीन वनवासी भिल्लादि जातियों के साथ, इतिहासयुगीन आर्य जाति के भिन्न भिन्न जनसमूहों का यह प्रिय प्रदेश बना हुआ है। वैदिक, जैन, बौद्ध, शैव, भागवत एवं शाक्त आदि नाना प्रकारके धार्मिक तथा दार्शनिक संप्रदायोंके अनुयायी जनोंका यहां स्वस्थ और सहिष्णुतापूर्ण सन्निवेश हुआ है। कालक्रमानुसार मौर्य, शक, क्षत्रप, गुप्त, हूण प्रतिहार, गुहिलोत, परमार, चालुक्य, चाहमान, राष्ट्रकूट आदि भिन्न-भिन्न राजवंशोंकी राज्यसत्ताएं इस प्रदेश में स्थापित होती गई और उनके शासनकाल में यहांकी जनसंस्कृति और राष्ट्रसम्पत्ति यथेष्ठ रूपमें विकसित और समुन्नत बनती रही। लोगों की सुख समृद्धिके साथ विद्यावानोंकी विद्योपासना भी वैसी ही प्रगतिशील बनी रही, जिसके परिणाममें, समयानुसार, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देश्य भाषाओंमें असंख्य ग्रन्थोंकी रचनारूप साहित्यिक समृद्धि भी इस प्रदेशमें विपुल प्रमाणमें निर्मित होती गई।

इस प्रदेशमें रहने वाली जनताका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अनुराग अद्भुत रहा है, और इसके कारण राजस्थानके गांव-गांवमें आज भी नाना प्रकारके पुरातन देवस्थानों और धर्म-स्थानोंका गौरवोत्पादक अस्तित्व हमें दृष्टिगोचर हो रहा है। राजस्थानीय जनताके इस प्रकारके उत्तम सांस्कृतिक–आध्यात्मिक अनुरागके कारण विद्योपासक वर्गद्वारा स्थान-स्थान पर विद्यामठों, उपाश्रयों, आश्रमों और देवमन्दिरोंमें वाङ्मयात्मक साहित्यके संग्रहरूप ज्ञानभण्डार–सरस्वतीभंडार भी यथेष्ट परिमाणमें स्थापित थे। ऐतिहासिक उल्लेखोंके आधारसे ज्ञात होता है कि राजस्थानके अनेकानेक प्राचीन नगर जैसे–आघाट, भिन्नमाल, जाबालिपुर, सत्यपुर, सिरोही, बाहडमेर, नागौर, मेड़ता, जैसलमेर, सोजत, पाली, फलोदी, जोधपुर, बीकानेर, सुजानगढ़, भटिंडा, रणथम्भोर, मांडल, चित्तोड़, अजमेर, नराना, आमेर, सांगानेर, किशनगढ़, चुरू, फतेहपुर, सीकर आदि

सैकड़ों स्थानोंमें, अच्छे अच्छे ग्रन्थभण्डार विद्यमान थे। इन भण्डारोंमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देश्य भाषाओंमें रचे गये हजारों ग्रन्थोंकी हस्तलिखित मूल्यवान् पोथियां संगृहीत थी। इनमें से अब केवल जैसलमेर जैसे कुछ-एक स्थानोंके ग्रन्थभण्डार ही किसी प्रकार सुरक्षित रह पाये हैं। मुसलमानों और अंग्रेजों जैसे विदेशीय राज्यलोलुपोंके संहारात्मक आक्रमणोंके कारण, हमारी वह प्राचीन साहित्य-सम्पत्ति बहुत कुछ नष्ट हो गई। जो कुछ बची-खुची थी वह भी पिछले १००–१५० वर्षोंके अन्दर, राजस्थानसे बाहर– जैसे काशी, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, बंगलोर, पूना, बड़ौदा, अहमदाबाद आदि स्थानोंमें स्थापित नूतन साहित्यिक संस्थाओंके संग्रहोंमें बड़ी तादाद में जाती रही है। और तदुपरान्त यूरोप एवं अमेरिकाके भिन्न-भिन्न ग्रन्थालयोंमें भी हजारों ग्रन्थ राजस्थान से पहुँचते रहे हैं। इस प्रकार यद्यपि राजस्थानका प्राचीन साहित्य-भण्डार एक प्रकारसे अब खाली हो गया है, तथापि, खोज करने पर, अब भी हजारों ग्रन्थ यत्रतत्र उपलब्ध हो रहे हैं जो राजस्थानके लिये नितान्त अमूल्य निधि स्वरूप होकर अत्यन्त ही सुरक्षणीय एवं संग्रहणीय हैं।

हर्ष और सन्तोषका विषय है कि राजस्थान सरकारने हमारी विनम्र प्रेरणासे प्रेरित हो कर, इस **राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर** (राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट) की स्थापना की है और इसके द्वारा राजस्थानके अवशिष्ट प्राचीन ज्ञानभण्डारकी सुरक्षा करनेका समुचित कार्य प्रारम्भ किया है। इस कार्यालय द्वारा राजस्थानके गांव-गांवमें ज्ञात होने वाले ग्रन्थोंकी खोज की जा रही है और जहां कहींसे एवं जिस किसी के पास उपयोगी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनको खरीद कर सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया जा रहा है। सन् १९५० में इस प्रतिष्ठानकी प्रायोगिक स्थापना की गई थी, और अब पिछले वर्ष, १९५६ के प्रारम्भसे, सरकारने इसको स्थायी रूप दे दिया है और इसका कार्यक्षेत्र भी कुछ विस्तृत बनाया गया है। अब तकके प्रायोगिक कार्य के परिणाममें भी इस प्रतिष्ठानमें प्रायः १०००० जितने पुरातन हस्तलिखित ग्रन्थोंका एक अच्छा मूल्यवान संग्रह संचित हो चुका है। आशा है कि भविष्यमें यह कार्य और भी अधिक वेग धारण करता जायगा और दिन प्रति-दिन अधिकाधिक उन्नति करता जायगा।



राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

जिस प्रकार उक्त रूपसे इस प्रतिष्ठानके प्रस्थापित करने का एक उद्देश्य राजस्थानकी प्राचीन साहित्यिक सम्पत्तिका संरक्षण करनेका है वैसा ही अन्य उद्देश्य इस साहित्यनिधिके बहुमूल्य रत्नस्वरूप ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेका भी है। राजस्थानमें उक्त रूपमें जो प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें सैकड़ों ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो अभी तक प्रकाशमें नहीं आये हैं; और

सैकड़ों ही ऐसे हैं जिनके नाम तक भी अभी तक विद्वानोंको ज्ञात नहीं हैं। यह सब कोई जानते हैं कि इन ग्रन्थोंमें हमारे राष्ट्रके प्राचीन सांस्कृतिक इतिहासकी विपुल साधन-सामग्री छिपी पड़ी है। हमारे पूर्वज हजारों वर्षों तक जो ज्ञानार्जन करते रहे उसका निष्कर्ष और नवनीत निकाल निकाल कर, वे अपनी भावी सन्ततिके उपयोगके लिये इन ग्रन्थात्मक कृतियोंमें सञ्चित करते गये। व्याकरण, कोष, काव्य, नाटक, अलङ्कार, छन्द, ज्योतिष, वैद्यक, कामविज्ञान, अर्थशास्त्र, शिल्पकला आदि लौकिक विद्याओंके ज्ञानके साथ श्रुति, स्मृति, पुराण, धर्मसूत्र, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, जैन, बौद्ध, शाक्त, तन्त्र, मन्त्र, आदि धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विद्याओंके रहस्य भी इन ग्रन्थोंमें नाना स्वरूपोंमें ग्रथित किये हुये हैं। इसी प्रकार, युग युगमें होने वाले अनेक शूरवीर, दानी-ज्ञानी, सन्त-महन्त, त्यागी-वैरागी, भक्त-विरक्त, आदि गुण विशिष्ट नर-नारी जनोंके जीवन और कार्योंके विविध वर्णन–चित्रण भी इन्हीं ग्रन्थोंमें अन्तर्निहित हैं। अर्थात् हमारे राष्ट्रकी सर्व प्रकारकी गौरव-गरिमाविषयक कथा-गाथाकी रक्षा करने वाला हमारा यही एकमात्र प्राचीन साहित्यसंग्रह है। इसीके प्रकाशसे संसारमें भारतका गुरुपद ज्ञात हुआ और स्थापित हुआ है। यद्यपि आज तक इनमें से हजारों ही प्राचीन ग्रन्थ, प्रकाशमें आ चुके हैं, फिर भी हजारों ही ऐसे ग्रन्थ और बाकी हैं जो अन्धकार के तलघरमें दबे पड़े हैं। इनका उद्धार करना और इन्हें प्रकाशमें रखना, यह अब इस नूतन जीवन प्राप्त नव्य भारतके प्रत्येक व्यक्ति और संस्थाका परम कर्तव्य है। इसी कर्तव्यको लक्ष्य कर, इस संस्था द्वारा '**राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला**' के प्रकाशनका आयोजन भी किया गया है। इसके द्वारा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देश्य भाषाओंमें निबद्ध विविध विषयोंके प्राचीन ग्रन्थ, तज्ज्ञ एवं सुयोग्य विद्वानों से संशोधित और सम्पादित हो कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। अब तक कोई छोटे बड़े २५ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और प्रायः २० से अधिक ग्रन्थ प्रेसों में छप रहे हैं। राजस्थान सरकार वर्तमानमें, इस कार्यके लिये प्रतिवर्ष २०००० रुपये खर्च कर रही है--पर हमारी कामना है कि भविष्यमें यह रकम बढ़ाई जाय और तदनुसार अधिक संख्यामें इन प्राचीन ग्रन्थोंका समुद्धार और प्रकाशन-कार्य किया जाय।

साहित्यका प्रकाश ही प्रजाके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर उसे दिव्यताका दर्शन कराता है।

माघ शुक्ला १४, वि० सं० २०१३.
(जीवनके ७० वें वर्षका प्रथम दिन)

मुनि जिनविजय

प्रास्ताविक परिचय

पूना के सुप्रसिद्ध भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के ग्रन्थ-संग्रहाध्यक्ष (क्यूरेटर) श्री पी० के० गोडे महोदय का 'पूना ओरिएण्टलिस्ट' भा० २ पृ० १६६-१८० में The Asvamedha Performed by Sawai Jaisingh नामक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने जयपुर के महाराजा माधवसिंह (प्रथम) के गुरु सदाशिव का उल्लेख करते हुये यह अनुमान किया है कि ये सदाशिव वही थे जिनका नाम 'माधवसिंहार्या-शतक' के कर्त्ता श्याम भट्ट ने 'आचारस्मृतिचन्द्रिका' के प्रणेता के रूप में उद्धृत किया है। इस लेख को पढ़ने के कुछ ही दिनों बाद सुहृद्वर पण्डित मनोहरलाल जी शुक्ल से मिलना हुआ और उन्होंने मुझे अपने पूर्वज महाकवि भोलानाथ-रचित 'कर्णकुतूहलम्' नाटक की एक हस्तलिखित प्रति दिखाई। इस प्रति के प्रथम कुतूहल में भट्ट सदाशिव का नाम देख कर उत्सुकता बढ़ी और कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करने का मन हुआ। संयोगवश उन्हीं दिनों में भट्ट लक्ष्मीलालजी मिले जो जयपुर के भूतपूर्व भट्टराजाजी के ठिकाने से सम्बद्ध हैं और वहां का कामकाज देखते हैं। उनसे बातचीत करने पर ज्ञात हुआ कि भट्टराजाजी का ठिकाना सदाशिवजी के समय में कायम हुआ था, वे महाराजा माधवसिंह (प्रथम) के साथ यहां आये थे और उनके पिता का नाम रत्नेश्वर था। ये औदुम्बर भट्ट थे और बड़े कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। महाराजा माधवसिंह का सब राज्यकार्य इन्हीं के परामर्श से चलता था। अब, 'कर्णकुतूहलम्' की प्रस्तावना के तथ्य स्पष्ट हो गये तथा अन्यान्य कागज पत्रादि देखने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि श्री गोडे महोदय का जिन सदाशिव भट्ट से तात्पर्य है वे ये औदुम्बर भट्टजी थे न कि दशपुरज्ञातीय गदाधर पुत्र सदाशिव जो 'आचारस्मृतिचन्द्रिका' के कर्त्ता थे।

उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर मैंने श्री गोडे महोदय को पत्र लिखा और उन्होंने उदारतापूर्वक इन्हें स्वीकार करते हुये 'कर्णकुतूहलम्' को प्रकाश में लाने का संकेत किया। तदुपरान्त श्रीमनोहरलालजी से प्रस्तुत नाटक की प्रति (जो उन्होंने मुझे इन्हीं भोलानाथ प्रणीत 'श्रीकृष्णलीलामृतम्' की हस्तलिपि के साथ सहर्ष दे दी) लेकर एतद्विषयक अन्यान्य सामग्री भट्ट श्रीलक्ष्मीलालजी से प्राप्त करके इस लेख का इससे आगे का अंश तैयार कर लिया गया। जब यह सामग्री मैंने अपने विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्रीजिनविजयजी महाराज को दिखाई तो उन्होंने 'कर्णकुतूहलम्' और 'श्रीकृष्णलीलामृतम्' दोनों ही लघुकृतियों को मन्दिर से प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार ये दोनों रचनायें मुद्रित होकर विद्वत्-समाज के सामने आ रही हैं जिनके प्रणेता कवि भोलानाथ, उनके आश्रयदाता भट्टराजा सदाशिव और मध्यकालीन हिन्दी

जगत के सुप्रसिद्ध भक्त कवि तत्कालीन जयपुर नरेश महाराजा सवाई प्रतापसिंहदेव का संक्षिप्त परिचय आगे दिया गया है।

कर्णकुतूहलम् को इसके प्रणेताने यद्यपि नाटक संज्ञा दी है परन्तु यह किसी भी रूपक अथवा उपरूपक के लक्षणानुसार ठीक नहीं उतरता, यह तो एक कुतूहल मात्र है। इसका कथाभार इस प्रकार है—

प्रथम कुतूहल

सूत्रधार प्रवेश कर नटी को रङ्गस्थल पर बुलाकर कहता है कि उदुम्बर-वंशोत्पन्न श्रीरत्नेश के पुत्र सदाशिव भट्ट की इस परिषत् में कोई नवीन सुन्दर नाटक का आयोजन करो। इस प्रकार परम्परानुसार नाटक के आयोजन का क्रम बांधकर कथानक प्रारम्भ होता है कि मत्स्य देश में महाराजाधिराज श्री माधवसिंह नामक (प्रथम) नरेश हुये जो अत्यन्त दानी, गुणी, योद्धा एवं प्रतापी थे। उनके पिता अत्यन्त पराक्रमी धीर, वीर गुणगणमणिमण्डित श्रीजयसिंह थे। उनके पौत्र (अर्थात् श्रीमाधवसिंहजी के पुत्र) अत्यन्त तेजस्वी, प्रजापालनतत्पर, धर्म-नीति-नय-धुरन्धर श्रीप्रतापसिंहनामक नरेश हैं। उनकी सभा में विद्वानों और गुणीजनों का अतिशय समादर होता है। तदनन्तर सभा में नटी प्रवेश करके पहले महाराजा को शुभाशीर्वाद देती है, पश्चात् गणेश-शिव-स्तवनादि-मङ्गलानन्तर सभासद नटी के सौन्दर्य का अत्यन्त सजीव वर्णन करते हैं। नख से शिख-पर्यन्त शृंगारपूर्ण ऐसा मनोरम वर्णन नाटकों में अन्यत्र कम ही पाया जाता है। इस प्रकार नृत्यगान में आधी रात्रि हो जाती है।

द्वितीय कुतूहल

इसके पश्चात् नर्तकगण बाहर चले जाते हैं। फिर, महाराज प्रतीहारी को भेजकर पट्टमहिषी को बुलाते हैं एवं उनके आगमन पर मधुपानलीला प्रारम्भ होती है। आगे, संयोग शृङ्गार का प्राञ्जल शब्दों में मधुर वर्णन है। इस प्रकार सम्भोगवर्णनान्त द्वितीय कुतूहल समाप्त होता है।

तृतीय कुतूहल

मनोविनोदार्थ महाराज की अनुज्ञा से बुलाई गई देववाणी-सम्भाषण में प्रवीण पट्टमहिषी की किसी सखी द्वारा महाराज को यह आख्यायिका सुनाई जाती है—

'पूर्व दिशा में कर्णपुर नामक नगर में परम धार्मिक विजयकीर्ति नामक राजा हुआ। उसके उदारकीर्ति, धर्मकीर्ति, जयकीर्ति, देशकीर्ति तथा आहवकीर्ति नामक पांच पुत्र थे। एक बार राजा के यहां कोई सुन्दर नाटक खेला गया जिसे सभासदों के साथ राजकुमारों ने भी देखा। उस नाटक का राजा के पांचवें पुत्र आहवकीर्ति पर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि नाटक देखने के पश्चात् जब सब राजकुमार चले गये तो एकान्त में उसने पिता से निवेदन किया 'महाराज! मुझे देश देशान्तर में भ्रमण की इच्छा है अतः कृपया जाने की अनुमति प्रदान कीजिये।' राजा ने बहुत समझाया कि तुम्हें बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहां किसी प्रकार का अभाव नहीं है, किन्तु कुमार ने कुछ दिन बाद लौट

आने का आश्वासन देते हुये जाने की ही आज्ञा मांगी। राजा ने भी अधिक हठ देखकर अनुमति प्रदान कर दी और कुमार अपनी माता से अनुमति लेकर धर्मपत्नी सहित कुछ परिजनों को साथ ले धर्मपुर नामक नगर में पहुँचा। वहां के राजा पुण्यकीर्ति को उनके आने का वृत्त ज्ञात होने पर वह उनसे मिलने आया एवं कुमार की दी हुई भेंट आदि स्वीकार करके उन्हें राजमहल में आने के लिये निमन्त्रित किया। (कुमार का अपने घर से प्रस्थान एव राजमहल तक पहुँचने का वर्णन अत्यन्त सुन्दर है) पुण्यकीति और कुमार दोनों परस्पर मित्रता सूत्र में बंध गये. तथा कुमार के कुछ दिन वहां रहने के विचार को जानकर उनकी इच्छानुसार राजा ने वृत्ति निर्धारित कर दी। कुमार की पत्नी गृहकार्य में कुशल न होने से उन्होंने उसे पृथक् मकान में रखा और एक व्यक्ति द्वारा प्रतिदिन एक स्वर्णमुद्रा उसके भरणपोषणार्थ भेजते हुये स्वयं राजा की सेवा में तत्पर हो गया। इस प्रकार एक वर्ष बीतने के बाद एक बार चोरों ने कुमारपत्नी के पास पर्याप्त धन होने की सम्भावना से रात्रि में उसके घर में प्रवेश किया, किन्तु वहां क्या रखा था? चोरों को अतीव ग्लानि हुई और सारी बात समझकर वे नगर प्रसिद्ध धनी कुबेरश्रेष्ठी के घर पहुँचे। वहां पर्याप्त धन उनके हाथ लगा। चोरों ने सोचा कि उस कुमारपत्नी को कुबेर के घर में और कुबेरकन्या को कुमारपत्नी के स्थान पर पहुँचा देना चाहिये—वैसा ही उन्होंने किया भी। प्रातःकाल कुबेरपुत्री ने अपने को कुमारगृह में देखा तो उसे अतीव आश्चर्य हुआ किन्तु वह बुद्धिमती थी—उसने सोचा, अब जो हुआ सो हुआ इस रूप में ठीक व्यवहार करना चाहिये। उसने दासी से जलादि मंगाकर भलीभांति स्नानादि करके शृंगार किये और नियत समय पर स्वर्णमुद्रा आने पर दासी से श्रेष्ठी को बुलाया तथा कहा कि वर्ष भर तक एक स्वर्णमुद्रा प्रतिदिन के हिसाब से जो स्वर्ण मुद्राएँ उन्हें मिली हैं उनमें कितना व्यय हुआ है, शेष मुद्राएँ वापस करो। इस प्रकार शेष मुद्राएँ प्राप्त कर महीने भर का अन्नादि एकत्र करके उसने स्वयं अपने हाथों भोजन बनाया और कुमार को भी भोजनार्थ निमन्त्रित किया। कुमार अपनी पूर्वपत्नी के व्यवहार से खिन्न था अतः उसने एक बार तो ना कर दिया किन्तु दासी के आग्रहपूर्वक दुबारा बुलाने से अनेक शंकाकुल-मनस्क वह गुणवतीनाम्नी नवीन पत्नी के भवन में प्रविष्ट हुआ। वहां गुणवती का रूप, शील एवं व्यवहार-कौशल तथा चातुर्य देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न एवं विस्मित हुआ। गुणवती और कुमार परस्पर समाकृष्ट हो प्रेमसूत्र में बंध गये और उनकी जीवन-नौका संसार सिन्धु में सुख के पतवार से सानन्द सन्तरित होने लगी।

एक दिन राजा पुण्यकीर्ति ने रात्रि में किसी स्त्री का रुदन सुना। राजा की उत्सुकता शान्त करने हेतु कुमार उस ध्वनि की दिशा में चला और राजा भी उसका सत्वृत्त एवं आज्ञा-पालन-कर्तव्यता-परिज्ञान-निमित्त पीछे से पहुँचा। वह रुदन शिवायोगिनी का था, जिसने अगले ही दिन राजा के मृत्यु होने की सूचना दी और प्रतिकार के लिये कुमार को बताया कि 'आज ही तुम्हारे जो पुत्र हुआ है, उसकी बलि देने के उपाय से राजा की मृत्यु टल सकती है।' कुमार इस उपाय को जानकर घर पहुँचा और उसने सद्योजात शिशु की बलि-हेतु अपनी पत्नी गुणवती से परामर्श किया। गुणवती वस्तुतः गुणवती थी। उसने अपने ही हाथों शिशु की बलि देने का निश्चय किया क्योंकि वह स्वामि-भक्ति

के लिये प्रिय से प्रिय वस्तु का विसर्ग करने में कष्टानुभव नहीं करती थी। किन्तु, बलि के लिये उद्यत होते ही शिवायोगिनी ने प्रकट होकर गुणवती को रोक लिया और कहा कि 'तुम्हारी पतिसेवा और स्वामि-भक्ति श्लाघनीय है, तुम सानन्द रहो और राजा भी चिरायुष्य प्राप्त करे।' इतना कह कर शिवायोगिनी अन्तर्हित हो गई और कुमार राजा की सेवा में पुनः यथापूर्व अवस्थित हो गया। इधर राजा भी सारा वृत्त अपनी आंखों से देख आश्चर्य चकित हो कुमार से पहले ही गुप्त मार्ग द्वारा आकर शय्या पर पहले की भांति लेट गया।

प्रातःकाल होने पर राजा ने बृहती सभा की, और रानी के परामर्शानुसार ऐसे अनुपम उपकार के बदले में अपनी कन्या का विवाह कुल-पुरोहित द्वारा कुमार के साथ कराने का निश्चय एवं रात्रि में कुमार का आश्चर्यजनक कर्म सभी सभासदों को कह सुनाया कुमार ने गुणवती की मन्त्रणा के अनन्तर राजा का प्रस्ताव स्वीकार किया और लक्षमुद्रा-रत्नालङ्कार तथा दस हाथियों के साथ राजकन्या का प्रीति-पूर्वक वरण किया।

इस प्रकार बहुत समय होने पर कुमार राजा से विदा मांगकर पुरस्कृत होता हुआ कर्णपत्तन में वापस पहुँचा और दोनों पत्नियों सहित उसने पिता के चरणकमलों में सादर नमन किया। इस प्रकार की आख्यायिका के उपबृंहण के साथ तीसरे कुतूहल की कवि ने परिसमाप्ति की है।

नाटक में वर्णित कथानक कवि की कोई मौलिक सूझ नहीं कही जा सकती क्योंकि ऐसे ही कथानक क्रमशः भोज और बल्लालसेन के बारे में भी कुछ हेर फेर के साथ प्रसिद्ध हैं। राजस्थानी में जगदेव परमार की कथा सिद्धराज जयसिंह के दरबार में ऐसे ही पराक्रम को लेकर सुप्रचलित है। तथापि नवीन कल्पना का पुट देकर उसे कवि ने यथामति सुरञ्जित करने का प्रयास किया है और इस प्रयास में उसे नितान्त असफल नहीं कहा जा सकता।

आहवकीर्ति का प्रस्थान वर्णन एवं राजप्रासादगमनवर्णन तथा सम्भोग-शृंगार एवं-नख-शिख वर्णन नाटक के रमणीय स्थल हैं। चन्द्रमा के सम्बन्ध में कवि की कल्पना नितान्त रमणीय एवं चमत्कारपूर्ण है।

महाकवि भोलानाथ ने 'कर्ण कुतूहल प्रभृति अनेक हिन्दी एवं संस्कृत में काव्यों का प्रणयन किया है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और संस्कृत एवं हिन्दी के अपने समय के अच्छे कवि थे। इनके पिता श्री नन्दराम शुक्ल भी संस्कृत के अच्छे प्रौढ़ विद्वान् थे। ये देवकुलीपुर नामक स्थान के निवासी थे जो अन्तर्वेद (गङ्गा यमुना का मध्य भाग) में स्थित है। इनके पूर्वज 'राम' नामक अच्छे प्रतापी योद्धा थे। उन्होंने एक बार किसी शरणागत वीर की सुरक्षा की थी अतः तत्कालीन मुगल सम्राट ने उन्हें 'ठाकुर' की उपाधि प्रदान की थी। इन श्रीराम ठाकुर की सन्तति-परम्परा में श्री दुर्गालाल शुक्ल अच्छे पौराणिक पण्डित हुए, जो इनके पितामह थे। इनके पितामह भूपति शुक्ल अच्छे गुणवान् एवं नीति निपुण थे, वे देवकलीपुर से आकर आगरे में रहने लगे और आगरे के किसी नवाब से उनका

अच्छा स्नेह सम्बन्ध हो गया। इनके पुत्र श्रीनन्दराम शुक्ल हुए जो भोलानाथ शुक्ल के पिता थे। भोलानाथ शुक्ल मनमौजी तबियत के रसिक एवं सहृदय कवि थे। इनके पाण्डित्य* की भी अच्छी धाक थी। तत्कालीन गुणग्राही मुगल सम्राट् बादशाह शाहजहां द्वितीय× से इनका अच्छा सम्पर्क था और उसने पांचसदी मनसब की प्रतिष्ठा से भी अपने दरबार में इन्हें सम्मानित किया था। किन्तु ये वहां जमे नहीं। बादशाह के दरबार से इन्हें भरतपुर के राजा सूर्यमल्ल ले आये और कुछ समय ये भरतपुर में रहे। भरतपुर के राजाओं से इनका अच्छा सौहार्द रहा और नवलसिंह आदि के प्रीत्यर्थ वहां इन्होंने अनेक काव्यग्रंथों की रचना की। किन्तु वहां भी ये स्थायी रूप से नहीं बस सके और फिर वहां से जयपुर आगये। उन दिनों जयपुर में माधवसिंहजी प्रथम राज्य करते थे, और उनके गुरु एवं प्रमुख परामर्शदाता भट्ट सदाशिव थे। कवि भोलानाथ का राजदरबार में सन्निवेश कराने में भट्ट सदाशिव का प्रमुख भाग रहा होगा—इसीलिये उन्होंने भट्ट सदाशिव एवं माधवसिंह के पुत्र प्रतापसिंह की प्रशस्तिपरक कर्णकुतूहल नामक ग्रन्थ का निर्माण किया है। भोलानाथ कवि के पुत्र शिवदास ने भी महाभारत का भावानुवाद किया था। इनके पौत्र चैनराम भी अच्छे कवि थे—उन्होंने अपने 'रससमुद्र' नामक ग्रंथ में जो शाहपुराधीश्वर श्रीहनुमत्सिंह की प्रीत्यर्थ संगृहीत किया था अपना वंशपरिचय इन शब्दों में दिया है:-

"कान्यकुब्ज द्विज शुक्ल कुल, भये राम यह नाम।
अन्तरवेदिहि दिविकुलीहि, तहां कियो सुख धाम॥
इक सरनागत ना तज्यौ, तजे सबनि निज गात।
तब दिल्लीस खिताब दिय, यह 'ठाकुर' विख्यात॥
तिनके कुल में भो प्रगट, दुर्गादास सुनाम।
पंडित पौराणिक भयो, रहे सु ताही ठाम॥
तिनके सुत 'भोपति' भयो, कियो आगरे बास।
गुणनिधि जानि नवाब हू, राखे तिन निज पास॥

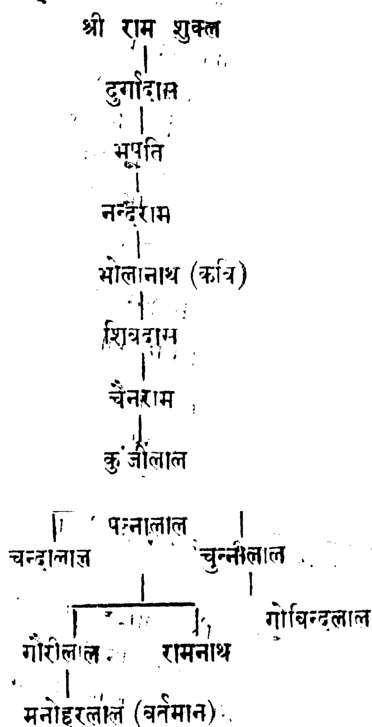
---

* श्री मनोहर शुक्ल जी से, जो उक्त कवि के वंशज हैं, ज्ञात हुआ है कि ये व्याकरण एवं साहित्य के विद्वान थे और मञ्जूषा पर उक्त कवि की लिखित टिप्पणी भी पहले विद्यमान थी जो अब अप्राप्त है।

× यह मुगल सम्राट् औरंगजेब के पांचवें पुत्र कामबख्श का पौत्र मुहीउलमिलत नामक बादशाह था जो ११७३ हिजरी एवं संवत् १८०१ विक्रमी में शाहजहां द्वितीय के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा था। (सरकार, लेटर मुगल्स् भा० १ पृ० ६६) यद्यपि बादशाह की प्रशस्ति-सम्बन्धी कोई ग्रंथ या काव्य एवं स्फुट पद्य उक्त कवि के उपलब्ध नहीं हुए हैं तथापि 'रससमुद्र' के उद्धरण से ज्ञात होता है कि इनका उपर्युक्त बादशाह से अच्छा सम्बन्ध था।

नन्दराम तिनके तनय, कवि पण्डित परवीन ।
ताके भोलानाथ जिहि, कीन्हें ग्रन्थ नवीन ॥
छहों शास्त्र अध्येन सों, गये दिल्लीपति पास ।
शाहजहां पतिशाह के, भयो मिलत हुलास ॥
पांचसदी मनसब दियो, राखे करि अति प्रीति ।
तब तिनकी रुचि जानि जिन, भाषा किय इहि रीति ॥
सूरजमल्ल ब्रजेश सो, गयो दिल्लीपति धाम ।
ले आयो भुवनाथ को, दिए वांछित धन धाम ॥
माधवेश अम्बापतिहि, मिले तहां ते आय ।
तिनहू भोलानाथ को, राखे बहु चित लाय ॥
तिनके सुत शिवदास सो, भाषा परम प्रवीन ।
हुक्म भूप को पाय जिन, भाषा भारत कीन ॥

कवि भोलानाथ का वंशवृक्ष उपर्युक्त आधार एवं उनके वंशज मनोहरलालजी की सूचनानुसार इस प्रकार बनता है—



वर्तमान में कवि के वंशज श्री मनोहरलाल शुक्ल विद्यमान हैं और अध्यापन-कार्य करते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि कवि भोलानाथ सम्राट् शाहजहां द्वितीय से मिले थे और जयपुर में श्री माधवसिंहजी प्रथम के समय में ही आ गये थे तथा श्री प्रतापसिंहजी के समय में ही सम्भवतः दिवङ्गत हुए। सम्वत १८४० में महाराजा प्रताप-सिंह के द्वारा थे. 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित हुए। इनके पुत्र शिवदास के नाम ग्राम गोकुलचन्द्रपुरा का पट्टा फागण बदी ४ संवत १८४६ में इनकी मृत्यु पर हुआ अतः इनका समय सं० १८४६ तक है।

महाकविविरुदविभूषित भोलानाथ ने ब्रजभाषा, पंजाबी, खड़ीबोली हिन्दी, एवं संस्कृत सभी तत्कालीन प्रचलित मुख्य भाषाओं में सुन्दर रचना की है। 'कविरनुहरतिच्छायाम्' सूक्त्यनुसार कविकुलगुरु कालिदास की रचना का अनुकरण सुन्दरता के साथ आपके संस्कृत पद्यों में पाया जाता है, जो रसग्राही सहृदय मिलिन्दों को सद्यः समाकर्षित करता है। अनेक स्थानों पर अलंकारों का सन्निवेश मनोरम और सहज स्वाभाविक लगता है। प्रसादगुणयुक्त, वैदर्भीरीतिसम्पन्न कोमलकान्तपदावली सहृदयों को स्वतः बलादिव नियोजितः की भांति परितृप्त कर देती है। इनके प्राप्त ग्रंथों का थोड़ा सा परिचय इस प्रकार है:—

१. श्रीकृष्णलीलामृतम्, कृष्ण-भक्तिपरक श्रीमद्भागवती-कथात्मक काव्य (संस्कृत भाषा में)
२. सुख निवास (सं० १८३० में लिखितः ठाकुर चतुरसिंह प्रीतये, ब्रजभाषा में गीत-गोविंद का पद्यानुवाद (भावात्मक)
३. नायिका-भेद (सं० १८१८ में लिखित, नवलसिंह प्रीत्यर्थ, ब्रजभाषा का आलंकारिक ग्रन्थ।
४. नखशिख भाषा (सं० १८३० में लिखित, हिन्दी भाषा में शृंगारिक ग्रंथ)
५. नवलानुराग (नवलसिंह प्रीत्यर्थ, नीति एवं प्रशस्ति-परक ग्रंथ)
६. युगल-विलास (युगलसिंह प्रीत्यर्थ शृंगार विषयक ग्रंथ)
७. इश्कलता (सं० १८२७, पंजाबी भाषा में कुंवर गोपालसिंह प्रीत्यर्थ निर्मित)
८. लीला-पच्चीसी (सूरजमल के पुत्र नाहरसिंह प्रीत्यर्थ विविध विषयात्मक १०७ पदों का संग्रह)
९. भगवद्गीता (नवलसिंह की प्रेरणा से नाहरसिंह प्रीत्यर्थ गीता का पद्यानुवाद। यह केवल १३ अध्याय पर्यन्त उपलब्ध है।
१०. नैषध (सं० १८४० में प्रथमसर्ग मात्र का पद्यानुवाद उपलब्ध है।
११. सुमन प्रकाश (नायिका भेद) (आलंकारिक ग्रंथ सं० १८२७ में लिखित
१२. महाभारत का पद्यानुवाद (अपूर्ण) केवल भीष्म पर्व का उपलब्ध है।
१३. भागवत दशम स्कन्ध पद्यानुवाद (नवलसिंह प्रीत्यर्थ सं० १८२६ में लिखित।

१४. लीला-प्रकाश (सं० १८२० में लिखित विविध विषयक पद्यों युक्त)
१५. प्रेम पच्चीसी
१६. कर्ण-कुतूहल (संस्कृत नाटक)

इनके अतिरिक्त विप्रलब्ध शृंगार-वर्णनपरक विविध-विषयक स्फुट पद्य भी उपलब्ध होते हैं जिनसे कविकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं वैदुष्य का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

कवि के ग्रंथों का साधारण अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि ये मौजी एवं रसिक प्रकृति के आलंकारिक कवि थे। इन्हें कवित्व के संस्कार जन्मजात रूप में ही प्राप्त हुए थे।

कर्णकुतूहल में कवि ने अपना थोड़ा सा परिचय इस प्रकार दिया है:—

"तातो यस्य समस्तशास्त्रनिपुणः श्री नन्दरामाभिधो
माता यस्य च पौष्करीति विदिता पत्यर्चने तत्परा।
वासो 'देवकलीपुरे' निगदितो यत्रास्ति कालेश्वरो
'भोलानाथ' इति प्रसिद्धिमगमत् तत्काव्यमेतच्छुभम् ॥१॥"

इनकी संस्कृत में केवल दो ही कृतियां उपलब्ध होती हैं। एक कर्ण-कुतूहलम् और दूसरी श्रीकृष्णलीलामृतम्। अपर कृति में १०४ पद्य हैं जिनमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का सरस वर्णन हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि महाराजा प्रतापसिंहजी द्वारा संवत् १८४७ में प्रतिष्ठापित जयपुर के प्रसिद्ध हवामहल स्थित श्रीगोवर्द्धननाथजी के मन्दिर* से इस रचना का सम्बन्ध है। कृति के अन्त में कवि का यह पद्य अवलोकनीय है—

"श्रीप्रतापस्य नृपतेः न्यवसन् सुखसद्मनि
श्रीरामस्वामिनो+ भर्ता गोवर्द्धनधरः प्रभुः ॥१०४॥"

इस प्रकार इनकी दोनों उपलब्ध संस्कृत कृतियां तो यहां पर प्रकाशित की जा रही हैं। अन्य अवसर पर शेष हिन्दी रचनाओं पर भी यथाशक्य प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

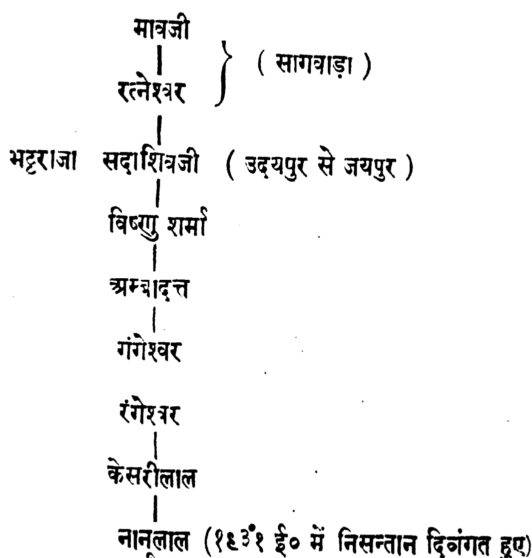
---

* हवामहलों में स्थित श्री गोवर्द्धननाथजी के मन्दिर में कीर्तिस्तम्भ पर यह लेख उत्कीर्ण है।

"श्री गोरधन नाथजी को मींदर बणायो हवामहल श्री मन्महाराजाधिराज राजे श्री सवाई प्रतापसिंहजी देव नामाजी मिती माह सुदी १३ बुधवार सं० १८४७"

भट्टराजा सदाशिव जी, जिनकी विद्वत परिषद् के प्रीत्यर्थ 'कर्णकुतूहलम' की रचना हुई थी औदुम्बर वंशीय मावजी भट्ट के पौत्र एवं रत्नेश्वर भट्ट के सुपुत्र थे। जयपुर नरेश सवाई माधोसिंह प्रथम के गुरु एवं प्रमुख परामर्शदाता के रूप में ये उनके साथ ही उदयपुर से सं० १८०७ वि० में जयपुर आये थे। इससे पूर्व ये डूंगरपुर जिले के निकट वर्ती सागवाड़ा ग्राम में निवास करते थे और तत्कालीन उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के विशेष कृपापात्र रहे थे। जयपुर नरेश सवाई माधोसिंह प्रथम जब कुँअरपदे में उदयपुर में निवास करते थे, उन्हीं दिनों उन्होंने भट्टजी को अपना गुरु बना लिया था।

इस बारे में प्रसिद्ध है कि उदयपुर महाराणा जगतसिंह ने जब अपने भागिनेय सवाई माधोसिंह को परम योग्य एवं गुणगणवरिष्ठ जान कर भट्टजी से उन्हें पढ़ाने के लिए निवेदन किया तो भट्टजी ने कहा था—मैं सामान्य जोशी नहीं हूँ। यदि मुझे माधवसिंह जी अपना गुरु माने और मेरी सन्तान को भी उसी प्रकार इनकी सन्तति गुरु मानती रहे तो मैं अध्यापन के लिये उद्यत हो सकता हूँ" माधवसिंहजी ने भट्टजी की इस शर्त को मान लिया और उनकी शिष्यता ग्रहण की। कालान्तर में जब वे जयपुर नरेश हुए तो उन्होंने भट्टजी को 'भट्ट राजाजी' की उपाधि एवं जागीर आदि देकर समुचित सम्मान से विभूषित किया। उक्त जागीर भट्ट सदाशिव जी की अनुवर्ती सात पीढ़ियों में सन् १९३१ ई० तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है—



"भट्टजी सूं म्हांको नमस्कार। अपरं च विद्यागुरुपणां की पदवी म्हे थांने दीन्ही छै सो जो म्हांका बेटा पोता होसी सो थांका बेटा पोतां आगे भणसी अर विद्यागुरुपणा की पदवी थांका बेटा पोतां ने देसी ईं बात का श्री जी सायदी१ छः मि० चैत्र कृष्णा सं० १८१४।"

भट्ट सदाशिवजी के पौत्र भट्टराजा अम्बादत्तजी के बारे में लिखे गये वर्णन से विदित होता है कि उनका जयपुर महाराजा किस प्रकार समादर किया करते थे। वर्णन इस प्रकार है–

"॥ श्रीरामजी ॥

दस्तूर विद्यागुरु भटजी श्री अम्बादत्त जी को

भट्ट राजाजी बारनै देस परदेश जाय तदि श्री हजूर सिख देबा२ पधारें, म्होर एक तोला नारेल एक भेट करै। श्री हजूरि मसन्द पर विराजै अर भट्टराजाजी मसन्द की तरफ जीवणी गद्दी २ पर बैठे। फेर भट्टराजाजी की आयां की खबर मालुम होय जिद श्री हजूरि कोस आध तांई पेसवाई३ पधारे पाछे भट्टराजाजी ने सवार कराय स्वारी४ के अगाड़ी चलावै, श्री हजूरि पाछे पाछे चालै पाछै भट्टजी ने तो डेरा सीख दे अर स्वारी महलां दाखिल होय। फेर भट्टजी के डेरे श्री हजूरि मिलबा पधारे एक तोला मोहर एक नारेल ऊंही तरै५ श्री हजूरि मसन्द पर विराजै भट्टराजा जी गद्दी२ पर बैठे घड़ी दोय घड़ी बातां करता रहे फेर श्री हजूरि महलां पधारै भट्टराजा जी का बेटा नें श्री हजूरि सूं जुवराजपणो बकस्यो अर आसणोट बकस्यो श्री हजूरि सूं मिले जद भट्टराजा जी तो गद्दी दोय पर ही बैठे अर जुगराजजी आसणोट परि बैठे।"

इसके अतिरिक्त भट्टराजाजी अम्बादत्त जी ने जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह जी द्वितीय को आश्विन शुक्ला ५ सं० १९२५ विक्रमीय को पत्र लिखा था उससे उपर्युक्त घटना की सम्पुष्टि होती है– पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है–

"॥ श्री राज राजेश्वरो जयति ॥

माधवसिंहजी हजूर सदाशिवजी

म्हांको नमस्कार बंचज्यो, अप्रंच रुक्को ईं मजमून सूं आयो कि श्री··· यो हुकम फुरमाये छै सो आपका बड़ा कांई बात सूं ईतनी ईजत पाई और अब कांई

१. साक्षी २. पहुँचाने के लिए। ३. अगवानी। ४. जलूस। ५. तरह।

करो छो सो बात मुक्तसिल१ लिखो । सो मालुम करां तीं को जवाब यो छै । ज्यो म्हांका बड़ा भट्टजी श्रीसदाशिवजी ने म्हाराज कवाँर श्री.........सूं उदयपुर में महाराणा जी साहिब मिलाया सो वणि सो वंदगी करी अर रफाकत२ भोत सी रही या छै । येक दिन महाराज कमार फुरमाई म्हानें पढ़ावो करो सो ईहीं तरै बातां होवै करी । भट्टजी कही म्हे लड़का पढ़ावणा जोशी तो छां नहीं आपनें पढ़ास्यां परन्तु म्हानै यो वचन हो जावे कि म्हांका बेटा पोता वंश में होसी सो थांका बेटा पोता वंश का कनै पढ़सी । तदि फुरमाई म्हांका मनोरथ हुयाँ या बात मंजूर छै । तदि भट्ट जी कही आप आमेर को राज्य पास्यो, तींकी म्याद अरज करदी सो जबान भट्टजी महाराज की सिद्ध हुई पाछै जयपुर पधारथा जद भट्टजी महाराज नै साथ ल्याया तदि फुरमाई कि ईं राज्य का मुक्त्यार आप छो म्हानें शिक्षा देस्यो जी मुजब चालस्यां आपको अणकह्यो करस्यां नहीं । पाछै भट्ट जी म्हाराज नै 'विद्या गुरु श्री भट्टराजा जी' की पदबी दीई और दोय गद्दी बिछवाय सिरे दरबार में बैठावा वानें जमीन जायदाद उदक इनाम वगैर साबिक वरुसी अर बड़ो सो कुरब कायदो बढ़ायो सो ऊंही दिन सूं लेकर आज तक धणी ऊंही रीत पर बरत्यां जाय छै सो यो हाल मालुम कर चोला और लिखी अब कांई करो छो सो धण्यां को शुभ चिंतवन करां छां मि० आ० शु० ५ सं० १६२५ वि० ।"

उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि भट्ट सदाशिवजी सवाई माधोसिंह प्रथम के केवल गुरु और परामर्शदाता मात्र ही नहीं थे प्रत्युत एक प्रकार से तत्कालीन जयपुर के सर्वेसर्वा थे । ये अत्यन्त दूर-दर्शी, विद्वान् नीतिमान् गुणी, वीर एव साहसी व्यक्ति थे। महाराज माधवसिंह जी इनका पूर्ण आदर करते थे और ये उनके साथ उदयपुर से जयपुर आये थे । इस विषय का उल्लेख भट्ट कृष्णराम जी प्रणीत 'कच्छवंश महाकाव्य' के निम्न श्लोक में भी वर्णित हुआ है—

ते ते गदाधरमुखा अपि पल्लिवालाः
औदुम्बरा अपि सदाशिवभट्टमुख्याः ।
प्राक् सेवितांघ्रिमधुना फलदानदक्ष-
मन्वीयुरेनमभुवृत्तमिव द्विजौघाः ।
(सर्ग १३, श्लोक २६७)

कर्णकुतूहल नाटक में कविवर शुक्ल भोलानाथ ने भट्टजी का परिचय जिन शब्दों में दिया है उनसे इनके सद्गुणों तथा महत्ता पर पूरा प्रकाश पड़ता है ।

सूत्रधार कहता है—"आर्ये, समस्तसामन्तनृपचक्रचूड़ामणि भूमण्डल-किरीट-रञ्जितचरणारविन्दः श्रीरत्नेशतनय औदुम्बर कुलालङ्कारो विघ्नराज इव विघ्नविध्वंस-कारी सुरगुरुरिव कूर्मवंशगुरुः श्रीमान् भट्टसदाशिवोऽस्ति ।"

---

१. संक्षिप्त । २. मेलजोल ।

आगे भी—

"भूदेवेषु नितिर्मतर्वितरणे दीने दया भूयसी
प्रीतिः पुण्यकथासु भीतिरनिश पापात्सुनीतिर्नये।
शूरत्वे कृतिरुन्नतिः सदसि वाक् सत्ये हरौ सज्जने
भक्तिर्भट्टसदाशिवक्षितिपतेः सर्वं परप्रीतये॥

तथा च नासामौक्तिकमद्रिराजतनया बिंबाधरे राजते
भूरत्ना चन्द्रकला नगेशतनया भाले शिवे तत्सुते।
शीतांशावमृतं सरस्सु सततं हंसा हरावाम्बुजं
श्रीमद्भट्टसदाशिवस्य सुयशः सर्वत्र भूषायते॥
दिङ्नागाधवलीकृता जलधयः कामं तथा वारिदा
वृत्ता वारिचराः पिकाः शनिरसौ पापानगाः पन्नगाः।
दृष्ट्वेदं हरिरीश्वरः स्मित मुखोऽपृच्छत प्रियां साऽवदत्
श्रीमद्भट्ट सदाशिवस्य यशसा कृष्णोऽपि हंसायते॥

आदि शब्दों में बड़ा ही हृदयग्राही मनोरम वर्णन किया है जिससे ज्ञात होता है कि ये एक विद्वान् एवं गुणीजनों के आश्रयदाता थे। स्वयं भट्टजी की कोई साहित्यिक कृति तो उपलब्ध नहीं हो सकी है, परन्तु कवि भोलानाथ के अतिरिक्त अन्य कवियों साहित्यिकों को प्रश्रय देने की बात से ज्ञात होता है कि ये विद्याप्रेमी अवश्य थे। कर्ण-कुतूहल में इनका वंशानुगत परिचय इस प्रकार दिया है—

"रत्नेशः कृतपुण्यरत्ननिचयो रत्नाकरश्चापर-
स्तज्जातः शशि सन्निभः कृतमहादानः कुबेरो यथा।
दिव्यौदुम्बरवंशविश्वविदितः श्रीविश्वनाथः स्वयं
श्रीमान् भट्टसदाशिवक्षितिपति र्जीयात् सहस्रं समाः॥"

इसके अतिरिक्त कविवर श्री भोलानाथ द्वारा प्रणीत भट्ट सदाशिव की प्रशस्ति के कुछ हिन्दी स्फुट पद्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें से कुछ पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिए जाते हैं—

महाराज शिवदास को, दास जु भोलानाथ।
करतु सदाशिव के कवित, हित सौं जोरे हाथ॥
॥ १ ॥
जाके आगै पढ़त कवित्त द्विज देव ठाढ़े
बाढ़े अनुराग गाढ़े गुन गन जात में।
सुधानिधि मुख सुधा बानी मुख जाके सदा
बाल सुधानिधि देव सोहै सदा भाल में॥

कीरति पुनीत जाको जगत पवित्र करै
गंगा सी बिसाल संग बाल गज चाल में।
संपय रसाल करै सबको निहाल पे कै
सदाशिव हाल हेरे दीन प्रतिपाल मैं ॥ १ ॥

पुण्य परताप ही कौ जाके द्वार डंका बाजै,
कहै भोलानाथ सोर लंका लौं कही को है।
भुवभार काँधे जाकै दयाभार ही में सदा,
लाज भार आँखिन में पैज भार जी को है॥
नृपति सदाशिव उदंबर पुरदर ज्यौं
सुन्दर सभा को औ सिकंदर मही को है।
आप निरदंभ दंभ मेटत सदभनि के
राजथंभ बिजैथंभ जाके सिर टीको है॥ २ ॥

नृपति सदाशिव यौं लखे, तारनि में ज्यों चन्द।
जाके चहुँधा कबिस रु, लखियत उदय अमंद ॥३॥
हैमदान झर सी रहत, वारिद लौं बरसंत
देत आशिष कवि सबै, कहै कै हिय हरषंत ॥४॥
गहै जाकी शाखा जानि मूलतें अतूल जाहि,
रहै अनुकूल एक धर्म ही को थरु है।
सुमन जाकौ सौरभ सुजस छायौ
सेवै भोलानाथ मन कामना को फरु है॥
चाहत सुरेस से महेस से अशेष अति
ऊँचौ नित पल्लव सौ जाको रहै करु है।
पूजै द्विजराजनि समाजनि निवाजै सदा
नृपति सदाशिव सौं औन सुरतरु हैं॥ ५ ॥

दानरुचि जी मैं जाके अरुचि न नैको कहूँ
दसों ही दिसन दिवि दामनी ज्यौं बरनी।
कलपलता सी सोहै सुमन सुमन जाकौ,
सुखसौं फलैगी कर-पल्लव में करनी॥

सौरभ सरस पति भौंर लौं छक्योई रहै,
कहै भोलानाथ मनहर नीक धरनी।
इंदीवरनैनी इंदुमुखी बिंद भाल जाकै,
सदाशिव मंदिर में इंदिरा सी घरनी ॥ ६ ॥

भोलानाथ करै सदा, इम अशीष ठाढ़ौ ॥
भट्ट सदाशिव की सदा, जय जय नित बाढ़ौ ॥७॥

इसी प्रकार कितने ही अन्य कवियों द्वारा भी इनका यशोगान हुआ है जो इन्हीं के घराने में संगृहीत एक गुटके में लिखित है।

॥ महाराजा प्रतापसिंहजी का जीवन–वृत्त ॥

जयपुर और आमेर के महाराजाओं का इतिवृत्त वीरता और नीतिपटुता के साथ साथ उनके साहित्य-प्रेम, विद्वत्समादरवृत्ति तथा गुणग्राहकता से ओतप्रोत है। महाराजा मानसिंह जब काबुल और बंगाल के अभियानों में नेता बनकर गये तो यश और धन के साथ साथ बहुत सी साहित्यिकनिधि भी वहां से बटोर कर लाये थे। जयपुर के सुप्रसिद्ध श्रीगोविन्ददेवजी के मन्दिर में अब भी बंगाल से लाया हुआ विपुल ग्रन्थ–भण्डार खासमोहर में रक्खा बताया जाता है। मिर्जा राजा जयसिंह के समय में कविवर बिहारीलाल (बिहारी सतसई के प्रणेता) के अतिरिक्त कितने अन्य साहित्यकार इनके दरबार में रहते थे यह सब कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। कुलपति मिश्र इन्हीं के समय के एक प्रख्यात कवि थे। इनके पुत्र रामसिंह के दरबार में भी कवियों और विद्वानों का खासा जमघट रहता था और वे स्वयं हिन्दी संस्कृत के मार्मिक वरिष्ठ विद्वान् एवं लेखक थे। सवाई जयसिंह के समय में तो जयपुर सभी विद्याओं का केन्द्र बन गया था और उसी समय से विद्या के क्षेत्र में जयपुर का नाम 'द्वितीय काशी' के रूप में अद्यावधि सुप्रसिद्ध है। इनके पुत्र ईश्वरीसिंह और माधवसिंह प्रथम के समय में भी थोड़े साहित्य का निर्माण नहीं हुआ। किन्तु, माधवसिंह जी के पुत्र व्रजनिधि उपनाम-धारी कविवर प्रतापसिंहजी की साहित्यक्षेत्र में जो अक्षय कीर्ति–कौमुदी समुद्भासित है वह युग–युगों तक अम्लान बनी रहेगी। प्रस्तुत नाटक 'कर्णकुतूहल' के रचयिता महाकवि भोलानाथ यद्यपि माधवसिंह प्रथम के समय में ही जयपुर में आ गये थे किन्तु इनके राज्यकाल में उन्हें यहां स्थायी आश्रय प्राप्त हो गया था और आज तक उनके वंशज यहीं पर बने हुए हैं। सं० १८४० में कवि भोलानाथ को प्रतापसिंहजी ने ही 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित किया था और इन्हीं के समान अन्य अनेक कवि एवं साहित्यकारों को इनके समय में प्रश्रय प्राप्त हुआ था। कर्ण-कुतूहल नाटक के नायक होने के कारण श्रीप्रतापसिंहजी का जीवन-वृत्त कतिपय शब्दों में नीचे देने का

महाराज प्रतापसिंह का जन्म पौष कृष्णा द्वितीया संवत् १८२१ वि० को जयपुर में हुआ था। इनकी माता चूँड़ावत जी थी जिन्होंने इनके बड़े भाई पृथ्वीसिंह और इनकी बाल्यावस्था में समस्त राज्यकार्य का संचालन स्वयं अपने हाथों किया था। अपने ज्येष्ठ बन्धु पृथ्वीसिंह के किशोरावस्था में ही कालकवलित हो जाने पर ये वैशाख कृष्णा ३ बुधवार सं० १८३५ को १५ वर्ष की आयु में जयपुर की गद्दी पर बैठे।* ये प्रत्युत्पन्नमति और दूरदर्शी थे अतः शीघ्र ही इन्होंने राज्य की बागडोर सँभाल ली और राज्य के अन्तरङ्ग शत्रुओं को निःशेष कर दिया। इन्हीं के समय में माचेड़ी के राव प्रतापसिंह द्वारा अलवर राज्य की स्थापना, तूँगे का युद्ध, अवध के नवाब वजीरअली (वजीरुद्दौला) का अंग्रेजों को समर्पण, तथा अनेक मरहठों के युद्ध प्रभृति कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएँ संगठित हुई जिनका विस्तृत उद्धरण यहां अप्रासङ्गिक एवं अनावश्यक है।

'व्रजनिधि ग्रन्थावली' में स्व० पुरोहित श्रीहरिनारायणजी ने इनके शरीर का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"इन महाराजा का शरीर बहुत सुडौल और सुन्दर था। वे न तो बहुत लम्बे थे और न बहुत ठिगने। न बहुत मोटे थे न बहुत पतले। उनके बदन (शरीर) का रंग गेहुआँ था। उनके शरीर में बल भी पर्याप्त था। बाल्यावस्था से उन्होंने शास्त्र-शिक्षा के साथ साथ युद्धविद्या की भी शिक्षा पाई थी, जैसा कि उस जमाने में और उससे भी पूर्व राजकुमारों के लिये अनिवार्य नियम था। महाराजा का स्वभाव भी बहुत अच्छा था। वे हँसमुख, मिलनसार, उदार और गुण-ग्राहक प्रसिद्ध थे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है वे राजनीति में भी पटु थे।"

उक्त उद्धरण से महाराजा प्रतापसिंह के व्यक्तित्त्व का भव्य चित्र स्वतः नेत्रों के सम्मुख साकार हो उठता है। महाकवि भोलानाथ ने भी प्रस्तुत नाटक में इन शब्दों में इनका सुन्दर वर्णन किया है—

"सूर्यः साक्षान्मित्रवर्गेण रूपे
साक्षात्कामः कामिनीभिर्व्यलोकि॥
चन्द्रः साक्षाल्लोचनैः सज्जनौघैः
साक्षादिन्द्रो भूमिपैः श्रीप्रतापः॥ १७॥

(क० कु० प्र० कु० १७)

* पं० हनुमान शर्मा चौमू ने अपने 'नाथावतों के इतिहास' में इनका राज्यारोहण वैशाख कृष्णा ४ सं० १८३६ बुधवार को होना तथा स्व० पु० हरिनारायणजी

"श्रीप्रतापसिंह मित्रों के लिये सूर्य की भांति उनके मनोरथ रूपी कमलों के प्रकाशक रूप में, स्मर-केलि-कुशल-कान्ताओं में कामोपम, सज्जनों के नयनों को इन्दु से आल्हादक तथा नृपतियों में इन्द्र की भांति श्रेष्ठता को स्वतः प्राप्त हैं।"

"दृष्टो देवैः पार्थ-तुल्यो रणेऽसौ
दाने दृष्टः कर्ण एवापरो वा॥
रामः साक्षाद् धीरतायां नरौघै-
र्दृष्टः किं वा सप्रतापः प्रतापः॥

(क० कु० प्र० कु० १८)

"प्रतापी प्रताप को देवता लोग रण में अर्जुन के समान और दान में दूसरे कर्ण के समान देखते हैं तथा जनसमुदाय इनकी धीरता के कारण इन्हें साक्षात राम के समान ही देखता है।"

"मृगाङ्कोऽयं रङ्कः प्रभवति सपङ्कः सुमनसां
दिनेशेऽस्तं याते मलिनमुख एवोदयत च।
निशायां धृष्टोऽसौ न हि भवति लज्जावृतमुखो
जितो राजन् लोके तव विधुमुखस्य प्रतिभया॥२॥

(हे राजा! तुम्हारे मुखचन्द्र ने प्रतिस्पर्धी इस लौकिक चन्द्र को सर्वथा पराजित कर दिया है क्योंकि यह बेचारा मलिन मुख लिये सूर्यास्त होने पर उगता है तथा रात्रि में भी लज्जावृत सा पूर्ण प्रकाशित नहीं होता एवं मृगलाञ्छन के कारण सज्जनों को रमणीय भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि सज्जनों (सुमनसां पुष्पाणाम्, सज्जनानां च) को सदैव ?य, सूर्योदय होने पर भी पूर्ण कान्तिमान्, रात्रि में भी ?ल्य आभासम्पन्न सदोदित तुम्हारा मुखचन्द्र इसे तिरस्कृत कर रहा है।)

"पङ्केरुहमिदमम्बुनि जितलक्ष्मीकं निर्मज्जितुं भवति।
तवमुखचन्द्रप्रभया पृथ्वीतिलक! प्रतापनिधे॥२२॥

(पूर्वोक्त श्लोकानुसार प्रसिद्ध लौकिक चन्द्र से अधिक शोभासम्पन्न मुखचन्द्र-युक्त पृथ्वीपति हे प्रतापनिधि प्रताप! देखो तुम्हारे इस मुखचन्द्र ने क्या अनर्थ कर डाला? पहले तो प्रकृत चन्द्र की सुषमा का अपहरण किया पुनः इसने कमल की छवि का भी हरण कर उसे श्रीविहीन कर दिया! अब बेचारा कमल कान्तिहीन होकर पानी में डूब मरने हेतु नीचे झुका सा जा रहा है। अतः हे प्रतापनिधे! आपके मुखचन्द्र का क्या वर्णन किया जाय?।')

इसी प्रकार महाकवि भोलानाथ ने अपनी विदग्ध रसमाधुरी से सहृदयों का अन्तःकरण समाकृष्ट करते हुए महाराजा प्रतापसिंह जी के गुणों का बड़े ही सुमधुर शब्दों में वर्णन किया है। इनकी रसिकता एवं अंग सौन्दर्य को लक्ष्य करके किसी अज्ञात कवि का यह मनोरम सवैया भी यहां अङ्कित करना पाठकों को आनन्दप्रद होगा-

"अग्र गुलाब कली लटकै सिर, छैल छबीले लपेटहि लेखौं।
घूमत बागे सुपीत पटा कटि, सौनजुही सुषमा अवरेखौं॥
सांझ समै जगदीस सिगार में श्रीतिनिवास के आंगन पेखौं।
सांवरिया प्रभु याद करौं जब भूप प्रताप की सूरति देखौं॥

ऐतिहासिक तूँगा समर के विषय में भी पद्माकर का निम्नलिखित पद्य पठनीय है; इससे उस समर की भयंकरता और प्रतापसिंहजी की वीरता का पूरा पता चलता है।

"जारि गयो जद्दन त्रिकद्दन बिडारि गयौ,
हारि गया डौर सब सिक्खन के सर को॥
कहै 'पदमाकर' मरोर गांवबासिनकौं,
तारि गयो तोरा तुरकानहू के तर को॥
भूपति 'प्रताप' जंग 'जालिम' सों रारि करि,
हारि गया सैंधिया भयो न घाट घर को॥
जब्बर पैठ लग्यो जम हू के पास तऊ
तनतैं न त्रास गयो 'तूँगा के समर को॥'

इसी प्रकार मराठों से युद्ध करते समय इन्होंने जो अपूर्व पराक्रम प्रदर्शित किया था उसका एक अज्ञात कविकृत कवित्त में रौद्र वर्णन देखिये—

"घोर घमासान महाप्रलै के निसाँन,
आसमान लौं लहर पचरंग के फहर की।
अंग रु बंग संग सुभट लपेटे लोह,
अघट उमंग छोह छाक के छहर की॥
सम्भु श्री प्रताप तो प्रताप झर झाफ आफ-
ताफलौं तराफ तेज ताप के थहर की।
सहर सहर दावा दारन अहर पर
कहर करै जन में झांख सी जहर की॥

ये योद्धा एवं प्रतापी होने के साथ साथ बहुज्ञ, अपरिमित मेधासम्पन्न, भावुक, एवं सहृदय भक्तकवि भी थे। इनके द्वारा रचित २३ ग्रन्थों का संग्रह 'व्रजनिधि ग्रन्थावली' के रूप में नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसमें इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है :—

१.	प्रेम प्रकाश	सं० १८४८	फा० बु० ६ गुरुवार
२.	फागरंग	,, ,,	,, सु० ७ बुधवार
३.	प्रीतिलता	,, ,,	चै० कृ० १३ मंगलवार

४.	मुरली विहार	संवत्	१८४६	फा० बु० ७ रविवार
५.	सुहाग रैन	,,	,,	,, सु० १० बुधवार
६.	विरह सरिता	,,	८५०	मा० ब० २ शनिवार
७.	रेखता संग्रह	,,	,,	,, सु० २ शनिवार
८.	स्नेह विलास	,,	,,	,, ,, २ रा.वार
९.	रमक झमक बत्तीसी	,,	१८५१	आ० सु० १२ बुधवार
१०.	प्रीति पचीसी	,,	,,	का० सु० ५ बुधवार
११.	ब्रज शृंगार	,,	,,	मा० बु० ६ रविवार
१२	स्नेह संग्राम	,,	१८५२	जे० सु० ७ शनिवार
१३.	नीति मंजरी	,,	,,	भाद्र ५ गुरुवार
१४	शृंगार मंजरी	,,	,,	,, ,,
१५	वैराग्य मंजरी	,,	,,	,, ,,
१६	रंग चौपड़	,,	१८५३	आ० शु० १ रविवार
१७.	प्रेम पंथ			
१८.	दुःख हरण बेलि			
१९.	सोरठ ख्याल			
२०.	रास का रेखता			
२१.	ब्रजनिधि पदसंग्रह			
२२.	ब्रजनिधि मुक्तावली			
२३	हरिपद संग्रह			

इसके अतिरिक्त एक आयुर्वेद विषयक विशाल 'अमृतसागर' नामक ग्रन्थ भी (गद्यात्मक) इनका लिखाया हुआ है। इन सबसे इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं वैदुष्य स्पष्ट प्रकट होता है।

ये ब्रजराज किशोर भगवान् श्री कृष्ण के परमभक्त थे और सुना जाता है कि इन्हें श्री गोविन्ददेवजी के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे, किन्तु, वजीरअली की घटना+ के बाद से इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होना बन्द हो गया था। इस जनश्रुति में तथ्यांश विवादास्पद होने पर भी इनके पद्यों द्वारा इनकी भावुकता एवं इनका भगवद्भक्ति में निमग्न रहना निःसन्देह सिद्ध होता है। इनका एक कवित्त सुधीजनों के प्रसार हेतु यहां उद्धृत करना ठीक होगा—

+ कहा जाता है कि अवध के नवाब वजीरअली (वजीरुद्दौला) अंग्रेजों से विद्रोह करके भाग कर इनके यहां शरणागत हो गये थे, और इन्होंने उन्हें शरण देना स्वीकार भी कर लिया था किन्तु बाद में किन्हीं कारणों से इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर वजीरअली को अंग्रेजों को सौंप दिया। इससे भगवान ने इन्हें विश्वासघात के पाप से प्रत्यक्ष दर्शन देना बन्द कर दिया था और ये इस परिताप से आजीवन सन्तप्त रहे।

"सोंधे सनी सारी मांग मोतिन सवांरी कुच
कंचुकी निहारी मृगमद चित्रवारी है ।।
नैन अैन वारी बंक भौंह छवि भारी सुचि
सुषमा के अंकवारी देह दिपति दिवारी है ।।
कजकरवारी मुसकानि में उजारी, भौंर
भौंर भर वारी आली अलकैं सटकारी है ।।
राधे सुकुमारी 'ब्रजनिधि' प्रानप्यारी लखी
केसर की क्यारी वृषभान की दुलारी है ।।

ये कविता में अपना उपनाम 'ब्रजनिधि' रखा करते थे। यह उपनाम भी इन्हें भगवान ने ही दिया था-जैसा कि—

'अब तो जल्दी से आ दरस दीजै
जो इनायत किया है 'ब्रजनिधि' नाम ।।

(हरिपद संग्रह १६५ वाँ पद)

ये भट्ट जगन्नाथ जी के शिष्य थे और उन्हीं की कृपा से इन्हें भगवत्साक्षात्कार भी हुआ था, जैसा कि—

"मैं कहौं कहा अब कृपा तुम्हारी,
याहि कृपा करि गुरु मैं पाये जगन्नाथ उपकारी ।।"

(हरिपद संग्रह)

इन्होंने ब्रजनिधिजी का मन्दिर बनवाया और अन्त समय में रुग्णावस्था में भी ये वहीं मन्दिर के तहखाने में (जो त्रिपोलिया से अन्दर की ओर चौक में पश्चिम की ओर है) विश्राम किया करते थे। इन्होंने तत्कालीन उत्तर भारत में प्रचलित सभी भाषाओं, खड़ीबोली, ब्रज, राजस्थानी एवं उर्दू मिश्रित पंजाबीभाषा में रचनाएं की हैं, इससे इनकी सार्वदेशिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

ये तत्कालीन प्रसिद्ध संगीतज्ञ, 'स्वर सागर' नामक संगीतशास्त्र ग्रन्थ के प्रणेता चुन्नप्रकाश के संगीत में शिष्य थे। इन्हें कविता के साथ साथ सङ्गीत एवं ललित तथा वास्तु, स्थापत्य आदि कलाओं के प्रति भी अपूर्व अनुराग था। इनके समय में ही 'श्री राधा गोविन्द संगीतसार' राधाकृष्ण कविकृत 'राग रत्नाकर' प्रभृति संगीत ग्रन्थों की रचना भी हुई थी।

इन्हें अपने दरबार में सब तरह के गुणीजनों की बाईसी संग्रह करने का विशेष शौक था। जैसे कवि बाईसी, वीर बाईसी, गंधर्व बाईसी, आदि।

ये जिस प्रकार स्वयं कवि थे उसी प्रकार कवियों के आश्रयदाता एवं संरक्षक भी थे। इनके समय में राय अमृतराम पल्लीवाल, ठाकुर बखतावरसिंह 'बखतेश' राव शंभूराम ब्रह्मकवि गणपति 'भारती' रसपुंज, रसराशि, चतुरशिरोमणि, सागर कविया, हुक्मीचन्द खीड़िया, महेशदास म्हाई, हरिदास, मनभावन, महाकवि भोलानाथ, मनीराम, वंसीअली, किशोरीअली प्रभृति सुकवि समुदाय इनकी सभा के शृंगार थे।

इनकी आज्ञा से अबुलफजलकृत 'आईने अकबरी' का जयपुरी भाषा में गुमानीराम कायस्थ ने अनुवाद किया था। बिहारी सतसई की प्रतापचन्द्रिका टीका कवि

मनीराम द्वारा तथा दीवान हाफिज का पद्यानुवाद भी इन्हीं के समय में हुआ था। इसके अतिरिक्त विश्वेश्वर महाशब्देकृत धर्मशास्त्र का महाग्रन्थ 'प्रतापार्क', प्रताप-सागर' (आयुर्वेद) 'प्रताप मार्तण्ड' (ज्यौतिष), राय अमृतराम पल्लीवाल कृत अमृतप्रकाश (अमुद्रित) प्रभृति अनेक ग्रन्थ तो इन्होंने अपनी प्रेरणा से लिखाये ही थे तथा 'प्रताप वीर हजारा' 'प्रताप शृंगार हजारा' जैसे पद्यों के संग्रह कराने में भी इनका बड़ा अनुराग रहता था। इस सबसे इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं विद्वत्समादरवृत्ति का उचित परिचय मिलता है। स्थापत्यकला के भी ये अच्छे प्रेमी थे अपने समय में इन्होंने चन्द्र महल का विस्तार, ऋद्धिसिद्धि पोलि, दीवानखाना (बड़ा), श्री गोविन्ददेवजी के पीछे का हौज, हवामहल, श्री गोवर्द्धननाथजी का मन्दिर, व्रजनिधिजी का मन्दिर आदि बहुत सी इमारतें बनवाई। हवामहल के बारे में लिखा है कि :--

हवा महल या तैं कियो, सब समझो यह भाव।
राधे कृष्ण पधारसी, दरस परस को हाव॥

(व्रजनिधि ग्रन्थावली)

अन्त में अधिक चिन्तित रहने के कारण रक्त विकार और अतिसार से श्रावण शुक्ला १३ सं० १८६० में ४६ वर्ष की आयु में ही ये स्वर्ग सिधार गये।

ये अपने समय के एक विशिष्ट, प्रतिभासम्पन्न, मनस्वी राजा थे। राजकार्य में उलझे रहने पर भी स्वयं इतने ग्रन्थों का प्रणयन करना, युद्धों में भाग लेना तथा इतने ग्रन्थों का निर्माण कराना कोई साधारण कार्य नहीं है। ये सुकवि महाराजा साहित्यकार के रूप में हिन्दी भारती के भव्य भवन में श्रद्धामय पद्य-पुष्प समर्पित करने के कारण साहित्याकाश में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की भांति अपनी प्रतिभाप्रभा से चिरकाल तक प्रकाशमान रहेंगे।

कृतज्ञताज्ञापन

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है 'कर्णकुतूहल' और 'श्री कृष्णलीलामृतम्' की एक मात्र प्रति कवि के वंशज श्री मनोहरलालजी के पास ही उपलब्ध हुई और उन्हीं के आधार पर प्रतिलिपि करके इनका मुद्रण कराया गया है। प्रति में जहां कहीं अशुद्धि अथवा लिपिकर्ता की भूल से अक्षरच्युति आदि रह गई थी उन्हें यथाशक्य ठीक करने का प्रयत्न किया गया है और पदटिप्पणि में संकेत कर दिया गया है। अन्त में, एक बार फिर श्री मनोहरलालजी को प्रतियां देने के लिए धन्यवाद देता हूँ और मुनि श्री जिनविजयजी महाराज के प्रति कृतज्ञताज्ञापन अपना कर्तव्य मानता हूँ जिनके मार्गदर्शन में इन कृतियों का सम्पादन कार्य हुआ है और जिन्होंने इस अकिंचन प्रयास को कृपापूर्वक प्रकाशित करने की आज्ञा प्रदान की है।

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर; गोपालनारायण

जयपुर; ८-२-५७

|| श्रीगणेशाय नमः ||

महाकवि-भोलानाथ-विरचितं

कर्णकुतूहलम्

अर्द्धाङ्गे गिरिराजरत्नतनया पूर्णेन्दुबिम्बानना
गङ्गापन्नगभस्मपात्रककलाचर्म्माम्बरं वान्यतः।
देवानां निकरैर्निषेव्य ✱ नितरां संस्तूयतेऽहर्निशं
सोऽयं शाश्वतिकं सुखं वितनुतां श्रीसाम्बमूर्तिः शिवः १॥

नान्द्यन्ते सूत्रधारः (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अये गुणविशारदे देवि! यदि नेपथ्यकार्यं जातमितस्तावदागम्यताम्।

नटी– अज्जउत्त इअह्मि अज्जेण को पओगो अणुचिट्ठीअते तं आणवेदु। ❀

सूत्रधारः– आर्ये! समस्तसामन्तनृपचक्रचूडामणिभूमण्डलाखण्डलकिरीटरञ्जित-चरणारविन्दः श्रीरत्नेशतनय औदुम्बरकुलालङ्कारो विघ्नराज इव विघ्नविध्वंसकारी सुरगुरुरिव कूर्मवंशगुरुः अद्वैतबोधतिरस्कृताखिलध्वान्तो (१ B) द्वैपायनो वेदव्यास इव विदिततत्त्वावबोधः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति गोतम इव प्राप्तभगवद्विषयकबोधकः पाकशासन इव प्रजापालनसमर्थः धनद्य (द) इव पूरितसद्मकोषविशेषः पार्थ इव धनुर्द्धरः धर्मराज इव सत्यवादी कर्ण इव कृतसुवर्णदानराशिः तपन इव प्रतापनिधिः कलानिधिरिव विशदप्रभः विष्णुरिव प्रबलभुजदण्डः रुद्र इव विनाशितसपत्नसमूहः श्रीमान् भट्टसदाशिवोऽस्ति तस्येयं परिषदतीव निपुणा तदर्थं अपूर्वं किञ्चिन्नाटकं नाटयितव्यं तत्रार्ये पात्रवर्गः सम्पाद्यताम्।

नटी– भोदु महाराअ एव्वमेव्व ता महाराअभट्टस्स किंत्तिं (२ A) सुणम्हि भणादु महाराओ। ×

✱ निसेव्य इति प्रतौ।

❀ आर्यपुत्र! इयमस्मि, आर्येण कः प्रयोगः अनुष्ठीयते तं आवेदयतु।

× भवतु महाराज एवमेव तावत् महाराजभट्टस्य कीर्तिं शृणोमि भणतु महाराजः।

सूत्रधारः— आर्ये ! शृणु तावद्वर्णयामि, यथा—

भूदेवेषु नतिर्मतिर्वितरणे दीने दया भूयसी
प्रीतिः पुण्यकथासु भीतिरनिशं पापात्सुनीतिर्नये ।
शूरत्त्वे कृतिरुन्नतिः सदसि वाक् सत्ये हरौ सज्जने
भक्तिर्भट्टसदाशिवक्षितिपतेः सर्वं परप्रीतये ॥२॥

नासामौक्तिकमद्रि ÷ राजतनयाबिंबाधरे राजते
भूत्वा चन्द्रकला नगेशतनय।भाले शिवे तत्सुते ।
शीतांशावमृतं सरस्सु सततं हंसा हरावम्बुजं
श्रीमद्भट्टसदाशिवस्य सुयशः सर्वत्र भूषायते ॥३॥

दिङ्नागा धवलीकृता जलधयः कामस्तथा वारिदा
वृत्ता वारिचराः पिकाः शनिरसौ पापानगाः पन्नगाः ।
दृष्ट्वेदं हरि × रीश्वरः स्मितमुखोऽपृच्छत् प्रियां साऽवदत्
श्रीमद्भट्टसदाशिवस्य यशसा कृ (२ B) ष्णोऽपि हंसायते ॥४॥

नेत्राणां चषकैर्निपीय सुधियः पीयूषपूरोपमं
लावण्यं त्रिबुधास्ततः श्रुतिगणा प्राप्तार्थतत्त्वास्ततः ।
पद्माणीह लगंति नैव सुदृशां तेषां न तृप्तिर्यतः
श्रीमान् भट्टसदाशिवो विजयते चन्द्राननः सर्वदा ॥५॥

कविरिव काव्यरसज्ञो रविरिव प्रतापनिधिर्भूयान् ।
भट्टसदाशिवनामा स जयति विधुरिव श्रीमान् ॥५॥

इति सूत्रधारोक्तं सर्वं सरसतासंपादकत्वेनाकर्ण्य सहर्षमनुभूय नटी वक्ति—

❀ अच्चिरअं अच्चिरअं अत्त लोए एतादिसो णिपो दुल्लहो होइ जादिसो अज्जउत्तेण उतोत्थिए तस्स अग्गे अपुव्वं कुदूहलं णाटकं कत्तव्वं एतस्स महाराअस्स घरे गेहणी सुणीदा सग्गदो ओतरिआ गंगा एब भोदि रूएण लच्ची एव्व पत्तिणो भत्ति-पराइणा अ (३ A) अरुन्धती एव्व दाणेन कल्पलदा एव्व कित्तीए जोन्हा एव्व किं अन्न चरिअं एत्तिस्सा भणितव्वं ॥

÷ 'मध्विराज' इति प्रतौ । × 'हारि ईश्वरः' इति प्रतौ ।

❀ आश्चर्यम् आश्चर्यम् अत्र लोके एतादृशोः नृपो दुर्लभो भवति यादृशः आर्यपुत्रणो उत्थितस्य तस्य अग्रे अपूर्वं कुतूहलं नाटकं कर्त्तव्यं एतस्य महाराजस्य गृहे गृहिणी सुनीता स्वर्गादवतीर्णा गंगा एव भाति रूपेण लक्ष्मीरेव पत्युर्भक्तिपरायणा च अरुन्धती एव दानेन कल्पलता एव कीर्त्या ज्योत्स्ना एव किमन्यच्चरित्रं एतस्या भणितव्यम्—

जहा रूअगुणाकिदिलच्छीसीलं डिट्ठं ण पुहमितल एतिस्सा ।
लज्जहि का णहि लोए लाअण्णं भूरिदाणं अ ॥७॥ ❀

[इति निश्चित्य सर्वे निष्क्रान्ताः]

मारिष इतस्तावत्, कथयतु कुत्र भवदीयोऽभिलाषस्तिष्ठति ।

सूत्रधारः– शृणु मारिष, अत्र मत्स्यदेशे महाराजाधिराजो भूरियशाः श्रीमाधवेशनामा बभूव तत्कथा कथ्यतां ।

मारिषः– कथ्यते भाव ! स च समस्तसामन्तविदारितारिमण्डलः साक्षादाखण्डलप्रचण्डपराक्रमः ॥ यथा—

प्रचण्डदोर्भ्यामतिदारिता रणे
खला अखण्डानलतुल्यतेजसा ।
समस्त–पाखण्ड–विदाहिताटवी
नृपेण येनाशु महत्प्रतापिना ॥८॥

य (३ B) स्याग्रे नहि तिष्ठन्ति भटभूपाश्च संगरे ।
सखड्गं कुपितं द्रष्टुं कः सहेत यमं नरः ॥९॥

साक्षाद् भर्ग इव प्रभुः स दहने तूर्णं परेषां पुरां (न्)
दुष्टध्वान्तविदारणे विभुरसौ यस्य प्रतापो रविः ।
श्रीमच्चन्द्रकलाकलापविशदा कीर्तिर्दिगन्तं गता
सोऽयं राजकुलेषु भाति नितरां श्रीमाधवेशो नृपः ॥१०॥

हंसी भूत्वा व्रजन्ती दिशि दिशि विदुषां पङ्कजास्ये वसन्ती
जिह्वाग्रान्निस्सरन्ती निखिलसुरमुनिव्रातवन्द्योल्लसन्ती ।
तत्तन्मन्त्रान् पठन्ती सपदि परपदप्राप्तसिद्धिं ब्रुवन्ती
सर्वार्थान् पूरयन्ती श्रुतिरिव विदिता माधवेशस्य कीर्तिः ॥११॥

त्वयि सति माधव दातरि कः कर्णः परश्च भोजः कः ।
उदिते सवितरि केऽन्ये ताराकाराः प्रतापकराः ॥१२॥

अखिलावनीशचक्रचूडा [४ A] मणिर्महाराजाधिराजः श्रीमान् जयसिंहनामा तज्जनको बभूव–यथा –

यस्य क्षोणिपतेः प्रतापतपनस्त्रस्तारिभूभृत्परं
दीनध्वान्तदरिद्रदारणपटुः संस्तूयतेऽहर्निशम् ।

❀ यथा रूपगुणाकृतिलक्ष्मीशीलं दृष्टं पृथ्वीतले एतस्याः
लज्जति का नहि लोके लावण्यं भूरिदानं च ।

मित्राम्भोजविकासकारि विलसद्भास्वत्करः कीर्त्तिदः
सोऽयं श्रीजयसिंहभूपतिरभूद्राजाधिराजोऽनघः ॥१३॥

श्रीरामचन्द्रसमविजययोग, श्रीकृष्णसदृशकृतभूरिभोग
रघुवंशतिलकजयसिंहभूप, निजभक्तपाल नरसिंहरूप ॥१४॥

कृतहेमदान जितकर्णदेव, नृप धर्मराज इव धनध (द) एव ।
दिनकरसमतेजःपुञ्जरूप, जितशरच्चन्द्रजयसिंहरूप ॥१५॥

रिपुजलरुहलक्ष्मीहारिधामैकधामा
कुवलयकुलचक्रप्रीतिदत्तोत्सवश्रीः ।
परमविशदमूर्तिर्द्दृक्चकोरैकसेव्यो
नरपतिजय [४ B] सिंहश्चन्द्र एवापरोऽभूत् ॥१६॥

तत्पौत्रो समस्तजगतां परमदैवतरूपो विजितारिमण्डल आखण्डल एवापरो भूमेः सहस्रांशुरिव विकासिताखिललोकः लोकनाथ इवावनिपालः कलानिधिरिव जगदानन्ददायकः श्रीमान् परमप्रतापी महाराजाधिराजः श्रीप्रतापसिंहोऽस्ति ॥ यथा—

सूर्यः साक्षान्मित्रवर्गेण रूपे साक्षात्कामः कामिनीभिर्व्यलोकि ।
चन्द्रः साक्षाल्लोचनैः सज्जनौघैः साक्षादिन्द्रो भूमिपैः श्रीप्रतापः ॥१७॥

दृष्टो देवैः पार्थतुल्यो रणेऽसौ
दाने दृष्टः कर्ण एवापरो वा ।
रामः साक्षाद्धीरतायां नरौघै-
र्दृष्टः किं वा सप्रतापः प्रतापः ॥१८॥

इन्दुर्मुखं भवति वागमृतं मुखेन्दौ
सत्यं सदैव वचनामृतमेतदीये ।
सत्ये सधर्ममतिरस्य हरिर्मतौ च
भक्तिर्हरौ विज (५ A) यते परतापसिंहः ॥१९॥

प्रतापोऽस्मिन् लोके प्रतपति दिनेशोदितकरो
रिपौ वा मित्रे वा समकरनिपातो दिनकरः ।
पर बुद्धौ भेदो नहि भवति भेदः प्रतपने
प्रजानाथः श्रीमान् प्रभवतु सदा नः प्रभुरसौ ॥२०॥

मृगाङ्कोऽयं रङ्कः प्रभवति सपङ्कः सुमनसां
दिनेशेऽस्तं याते मलिनमुख एवोदयति च ।

निशायां धृष्टोऽसौ न हि भवति लज्जावृतमुखो
जितो राजन् लोके तव विधुमुखस्य प्रतिभया ॥२१॥
पङ्केरुहमिदमम्बुनि जितलक्ष्मीकं निमज्जितुं भवति ।
तव मुखचन्द्रप्रभया, पृथ्वीतिलक प्रतापनिधे ! ॥२२॥

सूत्रधार एवं प्रस्तूयात्रोचत्—

भाव ! श्रीमहाराजोऽयं सभां कृत्वेदानीं तिष्ठति नाट्यं विधेयमेतस्याग्रे सभ्याश्चातीव विदग्धाः सन्ति ।

नटी कतिपय सखीभिः परिवृ [५ B] ताऽऽगता स्वर्गात् स्वर्वधूरिव झणझणायमानरत्नभूषणचया । ततः पञ्चाङ्गुलिं कृत्वा 'जअतु जअतु महाराओ' * इत्याशिषं दत्त्वा अतिष्ठत् ।

तत एकतालं तत सुषिरादिवृत्तो ÷ मृदङ्गध्वनिरभूत् । नटीमवलोक्य सभ्या वर्णयन्ति—

उदयति विधुरेव यत्प्रकाशः प्रसरति दिक्षु कुतोऽयमेति तर्कः ।
अनुसृत इव यच्चकोरवृन्दैः परितः पश्य सखे ह्यपूर्वदृष्टः ॥२३॥

उदयति किमु वा शशी सलीलं किमु ललना भवतीति मे वितर्कः ।
प्रसरति विशदप्रभा समन्तात् सुरललनैव नरीपु नैव दृष्टा ॥२४॥

किं वा शशी मुकुरबिम्बमदोऽरविंदं
किं वा मुख सरसिजे हरिणौ दृशौ किम् ।
गुच्छौ खगौ किमुत हेमघटौ कुचौ किं
क्षीराब्धितोऽवनिगता कमलाबला किम् ॥२५॥

सालस्यैर्गतिविभ्र [६ A] मैर्मृगदृशा हंसा निरंशाः कृताः
वार्यन्ते वरवारणाश्च विजिताः सिंहाः सुमध्येन च ।
इन्दुश्चारुमुखेन पद्मलदृशा पद्मानि नो दृक्पथे
कस्माद्देशत आगतेऽयमबला साक्षाद् भवेत्स्वर्वधूः ॥२६॥

लावण्यस्य तरङ्गिणी भवति किं मज्जन्ति चेतांसि यत्
बाणाः किं कुसुमायुधस्य सकलं व्याहन्यते वीक्षणात् ।
संगीतस्य च गीतकस्य च निधिर्वाणी नरीनृत्यते
भूमिः किं भवमोहनस्य च करक्रोडे जगद्वर्त्तते ॥२७॥

---

* जयतु जयतु महाराजः । ÷ 'वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनमि'त्यमरः ।

तत्र सुमुखस्तुत्या गीतं गीयते—

एकदन्त लम्बोदर गौरीसुत विघ्नराज
जय जय जयकारी विजयं त्वं देहि।

दत्त्वा सस्वरतालं सविलासं ह्यप्सरसस्तत्थेइ
थेइ नृत्यन्ति प्रणयं तदवेहि।

धिकट धिकट मुरजध्वनिसंगीतं गायन्त्यः
परमेश्वर महाराजं त्वधिकं [६ B] परिपाहि ॥

काव्यमिदं भोलानाथः कुरुते स्म श्रुतिसारं
हृदि कृत्वा परमेशः सुखमनुभूतं याहि ॥२७॥

करुणासिन्धो श्रीमुरारे !
कृष्ण कृष्ण यदुवंशधुरंधर कंसारे !
कुरु वासं करुणामय मम हृदय उदारे,
भोलानाथं तारय पतितं भवपारावारे ॥२८॥

शिव शिव वृषभध्वजेश वामदेव महादेव !
विजयं त्वं देहि श्रीसदाशिव दयालो !
भूतप्रेतपैशाचाः नृत्यन्तो धावन्तो
धावन्तो हहहेति हसन्तश्च कृपालो !
गायन्तो गन्धर्वा अप्सरसः सगीतं
नृत्यन्ति श्रुतिभिः सहदेवैरभिवन्द्यः
भोलानाथेन सता कृतमेतद्यः
पठति स्फुरति प्रभुरीशस्तस्य हृदय आद्यः ॥२९॥

श्यामा अराला शुचयोऽतिदीर्घाः काकोदराः किं शिखिबर्हभारः।
केशास्तवैते सुदृढं मनो मे बध्नन्ति पाशाः किमु वा भवन्ति ॥३०॥ [७A]

शशिप्रभं प्रियामुखं चकोरनेत्रयोः सुखं
ददाति कर्णयोः सदा वचोऽमृतं विशेषतः।
सरोजरूपसुन्दरं पतन्ति षट्पदा मुहुः
प्रसाधशालि-केशपाश-मेघवृन्दसंवृतम् ॥३१॥
मृगालिमीनखञ्जनाब्जहृच्चकोरचञ्चले
दृशौ विशाल-कर्ण-गेहतो हृदन्तरं मम।

झषध्वजस्य किं यतः शिलीमुखाः समन्ततः
पतन्ति सव्यसाचिनः खरा अतिप्रतापिनः ॥३२॥

पद्मे केचन सुधियः केचन मीनौ लपन्ति विद्वांसः ।
भवतो नयने नयने तनुतः किल कौतुकानि यतः ॥३३॥

अधरः किमु विद्रुमोऽरुणः किमु बिम्बं भवतीव सुभ्रुवः ।
अमरोऽपि नरोऽपि वा पिबन् सुकृती मन्दतरः कथं भवेत् ॥३४॥

धरतीति धरो भवत्यसावधरः कि मम संशयो मह्य [७ B] न् ।
कथयन्ति न ते बुधाः सखे ह्यपवर्गः कथमस्य पानतः ॥३५॥

कर्णावेतौ भावविज्ञौ रसज्ञे दृष्ट्वा चेतो याति वक्तुं मदीयम् ।
कूपावेतौ तत्र मीनौ पतन्तौ ज्ञात्वा भूयो द्वारदेशे ह्यतिष्ठत् ॥३६॥

द्विजाः किं तस्या वागमृतपदपुण्यैकनिलयाः
सरोजास्ये दानप्रतिदिननिदानव्रतपराः ।
सुधांशोर्वा जाता द्विगुणितमयूखाश्च विशदाः
कलाकौशल्यं वा रतिपतिकथाया गुणगिरां ॥३७॥

चिबुकं स्थलजातमम्बुजं तिलसंपर्कसमन्वितं प्रिये ।
अलिरेत्य पिबत्यसौ मधुप्रसभं तत्समुखं यथारुचि ॥३८॥

तव नासाचलमौक्तिकं प्रियेऽधरबिम्बे प्रतिबिम्बतां गतम् ।
किमु चञ्चुपुटेन तत्फलं चिनुते कीर उपेत्य सुव्रतः ॥३९॥

ग्रीवेयं तव बाले शङ्ख इवाऽभाति भूरि भ [८ A] व्यतनुः
ध्वनिमभिजातवामो ध्वनयति कामो जगद्विजयी ॥४०॥

किमु वक्षोजौ बाले ! किमु खगगुच्छौ कनककलशौ किम् ।
श्रीफलरूपौ किमु वा भूधरवेषौ मुनी भवतः ॥४१॥

अतिमृदुलौ तव बाहू प्रियतमकण्ठस्य पाशौ ।
बध्नीतः कथमेतौ हृदयं तस्यातिसक्तस्य ॥४२॥

उदरं तव भाति सुन्दरं शुभरोमावलिसंयुतं स्तुतं ।
नयने मम खञ्जने प्रिये ससुखं तत्र च खेलतोऽनिशाम् ॥४३॥

करौ किमेतौ भवतो भवत्याः छन्दौ किमेतौ जलजायताक्ष्याः
मनो मदीयं स्वपितीह जाने मधुव्रतो विस्मृतसर्ववृत्तः ॥४४॥

नाभिर्वापी काञ्चनी यत्र भूमिर्नीलाकारा वल्लरी यत्र भाति
श्वेतश्यामौ खञ्जनौ तत्र नेत्रे खेलत्खेलं चेरतुश्चारुचारौ ॥४५॥ [८ B]

मध्यप्रदेशो भवतीव नो वा भवेच्च किं नो नयनार्थगोचरः।
लब्धेरभावात् खलु तार्किकाणां भवेच्च किं नोनुपलब्धिसिद्धिः ॥४६॥

जघने तव राजतोऽबले प्रबलौ मन्मथराजवीरकौ।
निबिडे सुघटेऽतिमांसले कनकाभे जितकामसंगरे ॥४७॥

विधेः कुलालस्य किमद्भुतं भवेत् चक्रं किमद्रेश्च्युत एकदेशः।
तरङ्गिणीकूलमतो मनो मे भ्रमत्यजस्रं तरुणीनितम्बे ॥४८॥

शुण्डादण्डो निर्जितो मे स हस्ती धूलिक्षेपं भालदेशे करोति।
जाता रम्भा जङ्घया दर्पहीना श्रुत्वा रंभा चेतसा दूयते स्म ॥३६॥

तव चरणौ किमु चतुरे जलजे जलजाक्षि किमु च मृदुपत्रे।
भ्रमतो मम चित्तस्य स्थिरता जायेत नो चलति ॥५०॥

अङ्गुल्यस्तव चपले चम्पककलिका भवन्ति मे [९ A] तर्कः।
किं कुसुमायुधबाणा मम हृदयङ्गमाः कथं कथय ॥५१॥

नखानि चारूणि चकोरनेत्रे लसन्ति चाम्पेयदलेषु जाने।
मुक्ताफलानीव धृतानि वेधसा ताराः स्फुरन्त्यः किमु हीरकाणि ॥५२॥

एवं गानेन नृत्येन च तासां निशार्द्धमगमत् ततः समाप्तपटहध्वनिरभूत्।

[इति] श्रीनृपतिचूडामणिश्रीभट्टसदाशिवप्रीतये भोलानाथस्य कृतौ कर्णकुतूहले राजवर्णनं प्रथमं कुतूहलं जातम् ॥१॥

ततः सर्वे नर्त्तका बहिर्गताः ॥ पुनर्महाराजः प्रतीहारीं प्रेष्य महिषीमाजुहाव पल्यंकगतश्च प्रतीहारी श्रीगत्वाऽवदत्—

श्रीदेवि ! भवती महाराजेनाहूतास्ति, गंतव्यमिति श्रुत्वोवाचावश्यमेवेति देवी।

हंजे तुरिअं करणीअं कज्जं तुए कत्तव्वं भूषणमंजूखां आणेदु ॥ ❀

❀ हले त्वरया करणीयं कार्यं त्वया कर्तव्यं, भूषणमञ्जूषां आनयतु

चेटी ततथाकरोत्। राज्ञी स्वात्मान (९B) मलंकृत्य गन्तुं सन्नद्धा बभूव। कतिपयसखीभिः सार्द्धं गता प्रणम्याग्रे स्थिता ऽभूत्। तामवलोक्य महाराजो वर्णयति—

सघनो विधुरेव स प्रभो जलजे तत्र मधुव्रतौ स्थितौ।
तदधः किल कीर एव वै शुचि बिम्बं परिचुम्बति स्वयम् ॥१॥

अस्याः किं शशितो जनिर्जलनिधेः किंवा हरेर्गात्रतः।
किं वा वारिदवृन्दतः स्वयमियं जातातिहर्षप्रदा।
किं वा कामत एव जन्मविधितो नैवाविरासीद्ध्रुवं
चञ्चच्चारुचकोरनेत्रचपलैर्नेत्राञ्चलैर्वीक्षते ॥ २ ॥

चन्द्रः किं शशलक्ष्म नैव वदनं बिभ्रद् धनुर्मण्डलं
यस्माच्चैव चलन्ति भूरि विशिखा विध्यन्ति चेतश्चलम्।
किं वा काञ्चनवल्लरी सकुसुमा मन्दं चलन्ती क्षितौ
कान्ता या हृदि वर्त्तते मम सदा सेयं पुरस्तात् स्थिता ॥३॥

कान्ते! आयाहि।

सा [१० A] तथैव करोति स्म। तत्करं गृहीत्वा नृपः प्रार्थयते—

त्वं मे वै हृदयं गतासि चतुरे मग्नं मदीयं मनः
सत्यं नो चलतीव मज्जतितरां भृङ्गो यथा वारिजे।
तस्मान् मां सदयं निरीक्ष्य विलसद्वामोरु नेत्राञ्चलै-
र्हत्वा जीवय जीवय प्रियतमे बद्ध्वाञ्जलिं प्रार्थये ॥४॥

तत्र मुखमम्बुजममले नेत्रे पाणी च पादौ च।
मम किल मधुपश्चेतः परतो भ्रमतीव च भ्रमति ॥५॥

त्वं मे प्राणप्रदासि त्वयि च मम सदा वर्त्तते प्राण एव।
त्वं बाले देहि देहि प्रसभमहमसौ व्याकुलस्तेन हीनः।
दत्तो ऽयं मे न तेऽस्ति श्रुतिपथमगमद् वाक्यमेतत्तदीयं
वक्तुं पश्चात् प्रतापः प्रतिवचनमहो नाचकांक्षे मृगाक्षी ॥६॥

राज्ञी महाराजोक्तमाकर्ण्य सखीं वक्ति—

हला महाराओ किं कथेदि सुणी [१० B] दंतु ए सखी।

सखी—सुदं मए इदं महाराओ तुअ अधीणोत्थि। किं अदो वि परं भोदीए उक्तं अ॥ ❀

गिरितः पतनं सुखावहं पतनं वारिनिधौ तथैव च।
अनले ह्यवटेति कर्दमे पतनं प्रेम्णि न कस्यचिद् भवेत्॥७॥

इति श्रुत्वा सहर्षं राज्ञी उवाच सखीं—

सहि किल होइ अहीणो जइ कंतो किं फलं तदो वि परं।
णहि हं जाणे मंतं कधमेतादिसो अहीणो हि॥८॥ †

देइ देसो अग्गं कध वण्णणीअं जिस्स महाराओ ईदिसो अधीणोत्थि।

महाराजः प्रियोक्तमाकर्ण्य प्रियाकरं गृहीत्वा शय्यायां स्थापयामास।

सीधुपानमुदितः सहकर्तुं वल्लभो वनितया जलजाद्या।
तेन संयुतमयं मधुपात्रं प्राददे प्रियतमाकरतोऽलम्॥९॥

पिब पिबेति लपन् बहुधा वचो निजकरेण मुखे सम [११A] योजयत्।
जलरुहाक्षि कुरुष्व मदीरितं न न ननेति ननेति जगाद सा॥१०॥

कदापि विघ्नेन कथंचिदुक्तं ननेति वर्णद्वयमर्थयुक्तम्।
तवाननं चन्द्रसमप्रभं स्यात् सुधामयं नेत्रचकोरहारि॥११॥

भवती भवतीव वर्त्तते हृदये मे हृदयङ्गमेऽनिशम्।
अहमेव भवामि च प्रिये त्वमिति त्वं कथमन्यथा भवेः॥१२॥

बद्ध्वाञ्जलिमहं याचे मधुपानं कुरु प्रिये।
सम्भोगचारुसुखदं दम्पत्योः सुखमिच्छतोः॥१३॥

राज्ञी सहासमाह – किं एव्वं भ्रूषे, हंहे दासी होमि यत्तुए कत्तव्वं तत् मए वि करणीअं॥ +

❀ हले महाराजो किं कथयति शृण्वन्तु ए ख्यः श्रुतं मया इदं महाराजः तव आधीनोऽस्ति। किं अतोऽपि परं भवत्या – उक्तं च

† सखि किल भवति अधीनो यदि कान्तः किं फलं ततोऽसि परं। नहि अहं जाने मंत्रं कथमेतादृशो अधीनो हि॥ देवि ईदृशो अग्रं कथं वर्णनीयं यस्याः महाराजाः ईदृशः आधीनोऽस्ति।

+ किं एवं भ्रूषे–अहं दासी भवामि यत्त्वया कर्तव्यं तत् मयाऽपि करणीयं।

राजा—त्वं मे प्राणप्रियासि प्रचलनयनयोः कान्तदृक् प्रान्तपातै-
र्भित्वा चेतो मदीयं विषमशरवशं किं करोषीत्ययोग्यम्।
याचे त्वाहं मनोज्ञे सरसि [११ B] जनयने सुप्रसादं कुरुष्व
प्रेम्णा ते ऽहं प्रबद्धः कुरु ममवचनं सीधुपात्रं गृहाण ॥१४॥

राज्ञी—भोदु महाराअ अमेव्व। ⁂

सीधुपानमकरोद्वनिता सा प्रियतमेन सहितानुमतिज्ञा।
चारुचन्द्रवदनं ललनायाश्चुम्बति स्म सरसं स रसज्ञः ॥१५॥

चारुपङ्कजमुखं जलजाद्याः पश्यते स्म नृपतिः सविलासम्।
दन्तवासविशदद्युतिदन्तं संभ्रमद्भ्रमरनेत्रनिवासम् ॥१६॥

पीत्वा पीत्वा वक्त्रलावण्यमस्याः दृष्ट्वा दृष्ट्वा दृग्विलासैकपात्रम्।
स्मृत्वा स्मृत्वा रूपसंपन्निवासं घूर्णन् नेत्रे विस्मयं सोऽभ्यगच्छत् ॥१७॥

केशाः किं रात्रिरेषा रतिपतिरनिशं तत्र शेते नितान्तं
तं द्रष्टुं चित्तमेतद्व्यचलि समधिकं तेन तत् तत्र बद्धम्।
नैवान्यत्रापि गन्तुं प्रचलमपि ततः शक्यते किं ब्रवीमि
प्रोद्धारं तस्य कुर्याः सरसिजव [१२ A] दने प्रेमबद्धोऽस्मि तेऽहम् ॥१८॥

शशिप्रभं ते मुखमम्बुजप्रभं वदन्ति ते पण्डितमानिनो बुधाः।
अनन्तसाम्राज्यकलाकलाप–प्रभालसत्सीधुविलासि दृश्यते ॥१९॥

ससीधु ते चन्द्रमुखं विलासात् क्षणं क्षणं स्वादुविशेषशालि।
तिरस्कृताशेषसुधारसोत्सवं लपँल्लपन् तल्लपनं पपौ सः ॥२०॥

निपीय तस्यामुखमम्बुजप्रभं जगाम तृप्तिं न मधुव्रतो यथा।
तथैव लीलायि + चकोरलोचना न तृप्तिमागात् ससुखं जहास ॥२१॥

नीत्वोपकण्ठं स्वकरेण बाला तत्पानपात्रं पिबतो नृपस्य।
तत्रैव तस्याः प्रतिबिम्बितं मुखं पपौ सुखं स्वादुतरं नृपालः ॥२२॥

पपौ मुखं सादरतोऽबला सा ससीधुपानं तृषिता सलीलम्।
सहासवाग्भिर्विलसद्द्विजालिस्मितेन साक्षाद्रति [१२B] रेव कामम् ॥२३॥

⁂ भवतु महाराज एवमेव। + लीलायु इति साधुपाठः।

अतीवकान्तं मुखमम्बुजाक्षि ते तथैव बिम्बाधर एष रोचते।
परस्परं द्वावपि चारुचेष्टितैः क्रियाविलासं कुरुते स्म सस्पृहम् ॥२४॥

पपावासवं चारुवक्त्रेण साकं
स्पृशन् वृत्तवक्षोजगुच्छौ विलासी।
हसन् हासयँल्लोलदृक्प्रान्तवर्षी
कलाकौतुकी कामदेवो हि साक्षात् ॥२५॥

अरालधम्मिल्लनिबद्धचित्तः कलाविलासैस्तव संगृहीतः।
पिबामि वक्त्रेण समं मदालसे सुधासवं ते वचनामृतैश्च ॥२६॥

सत्यं प्राणसमासमानविलसत्कल्लोललीलारस-
प्रोद्यद्दामकुतूहलामलमिलत्क्रीडोल्लसन्मानसे।
पश्यन्ती मृगबालदृग्विलसितैर्मां दीनदान्तं प्रिये
देहि प्रोद्धतकामशान्तिमधुना जाने त्वमेवौषधम् ॥२७॥

राज्ञी—किं महाराअेण [१३ A] कहीअदि दासी देह्मि। ❀
राजा वारुणीपूर्णं पात्रं ददाति। सा पिबति स्म।
अदायि राज्ञाऽपि पुनश्च पात्रं पपौ नृपो नेत्रविलासकारी।
एवं सरागौ सुखशालिवेषौ बभूवतुस्तौ मधुपानतो भृशम् ॥२८॥

मुखं त्वदीयं कमलायते प्रिये मनो मदीयं भ्रमरायते तथा।
कृतं हि संयोगविधानमेतयोर्विरञ्चिना प्रेमनिबद्धचेतसोः ॥२९॥

पीयते स्म सरसं मधु पत्या चुम्ब्य चुम्ब्य वदनं वनितायाः।
तद्वदेव मकरध्वजबन्धोराननं जलजवज्जलजाक्ष्याः ॥३०॥

मा कुरु मानिनि मानं मानोऽयं विप्रलम्भहेतुरये।
भ्रूभङ्गस्तव कुटिलश्चेतो मे हन्त हन्तीव ॥३१॥

त्वं मे चेतसि विहरसि सरसं हंसी यथानिशं सरसि।
बहिरपि त्वं मे भवसि [१३ B] प्रेयसि त्वं मे तदपि जाने ॥३२॥

इति प्रियोक्तं सरसं निशम्य लतेव वृक्षं सहसाऽबला सा।
मृणालदोर्भ्यां ससुखं स्ववक्षसा निपीड्य तस्यान्तरयांबभूव ॥३३॥

❀ किं महाराजेन कथ्यते। दासि देहि।

मुखं मुखस्योपरि संनिधाय निपीड्य वक्षः किल वक्षसा तु ।
सुखं समाजग्मतुरेकचित्तौ यदद्वयानन्दमयं वदन्ति ॥३४॥
एकीभूतौ तत्सुखे दम्पती तौ पीत्वा पीत्वा सीधु बिम्बाधरोत्थम् ।
गाढालिङ्ग कोमलाङ्गेषु कृत्वा कामं पूर्णानन्दलाभं प्रयातौ ॥३५॥

इति वदनसरोजौ कान्तिकान्तौ मृगाक्षौ
विलसितमधिकं तौ प्राप्य केलीगृहान्तः ॥
परमसुख-नितान्त-प्राप्तिपूर्णाभिलाषौ
रतिपतिकमनीयौ प्रापतुः प्रीतिलक्ष्मीम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भट्टसदाशिवप्रीतये भोलानाथस्य कृतौ कर्णकुतूहले संभो [१४A] गकुतूहलं जातम् ॥२॥



अथातः स्वापो विधीयतामिति महाराजस्येच्छा जाता ॥ ततः कस्याश्चिद्गीर्वाण-भाषाभिज्ञाया सख्या अस्मार्षीत् । सा तत्रागत्याशिषं दत्त्वा ह्यतिष्ठत, पुनः स्थिता सती ह्यपूर्वामेकामाख्यायिकामाह ।

श्रीमहाराज ! पूर्वदिशि कर्णपुरपत्तनं, तत्र परमधार्मिको विजयकीर्तिनामा राजाऽभूत् । तस्य पञ्च पुत्रा आसन् । उदारकीर्तिर्धर्मकीर्तिर्जयकीर्तिर्देशकीर्तिराहवकीर्तिरिति सर्व एव स्वधर्मनिरताः शस्त्रास्त्रशास्त्रविशारदाः । एकदा राजाग्रे नाम नाट्यमभूत्तत्र ते कुमारा आगत्य स्थितास्तद्ददृशुः यथा—

विलसितं नयनाञ्चलचारुतागतिविशेषतया ललितं वपुः ।
वदनचन्द्रचलद्भृकुटीध [१४B] नुर्हरति कस्य न हीदमहो मनः ॥१॥

एवं पुनः सर्वे गीतादि [कं] निशम्य प्रणम्य च राजानं स्वस्वमन्दिरं जग्मुः । आहवकीर्तिः कनिष्ठस्तत्रैव स्थितः । राजा अवलोक्य आह, आहवकीर्ते ! त्वया कथं न गतम् ? । कुमारोऽञ्जलिं बद्ध्वा सविनयमाह-महाराज ! मम देशान्तरं द्रष्टुमिच्छाऽस्ति ।

राजा कंचित्कालं स्वगतं विचार्य आह-पुत्र ! तव गेहे सर्वं वर्तते किमर्थं तद्देशान्तरं जिगमिषा । ❀

कुमारः-महाराज ! किंचिन्मे कार्यं नास्ति दिदृक्षैव, अत आज्ञप्तव्यं गन्तव्यमिति ।

❀ देशान्तरजिगमिषेति साधुपाठः ।

राजा पुनरप्याह–वत्स ! नेदानीं तवावसरो गमनस्य ।

कुमारः—पितः न हि मया भवतः परित्यागः क्रियते किन्तु स्वकीयं प्रारब्धं विलोकयितुमेव कीदृशमिति ।

जनकः प्रभुरिव जग [१५A] तः सेव्यो ध्येयश्च यः सदा पूज्यः ।
यदि नहि सेवे त्वाहं कथय पितः का गतिर्भूयात् ॥२॥

ततोऽवश्यमेवाज्ञां देहि गच्छेति राजन् ! इदानीमेवागमिष्यामि ।

राजा–यद्येवं तर्हि गम्यतां पुनरागमनं च ते भूयात् ।

पुनः कुमार एवं पितृवचः श्रुत्वा ढक्काघोषः क्रियतां सनह्यतामिति स्वापं विधाय पुनरुत्थितः । कृत्वावश्यकं स्नात्वा च दानं कृतवान्, ततः सन्नद्धोऽभूत् । सर्वे सन्नद्धा अभवन् । ततोऽन्तःपुरे जगामाञ्जलिं कृत्वा मातृणामग्रे स्थितोऽभवत् मातर आशिषं ददुश्चिरायुस्त्वं भूया इति । पुत्र ! किमर्थं गम्यते कुत्र च । तव गेहे सर्वमस्ति । किं कार्यं वर्त्तते वदेत्युक्त्वा साश्रु स्थिता ऊचुः ।

मा कुरु जन्म विधातर्जन्मनि कृते वियोगमपि [१५B] मा देहि ।
देहि मानुष्यं मा कुरु दुःखमिदं वज्रतोऽप्यधिकम् ॥३॥

गद्गद्वाचो जाता वक्तुं किमपि न समर्थाः स्युस्ताः ।
लिखिता इव किं चित्रे, मग्नाः किं दुःखवारिनिधौ ॥४॥

कुमारः—मा कुरु दुःखं मातः किं याता नो मिलन्ति मे तर्कः ।
अश्रुकलाः किल मुञ्चन्नोवाचान्यत्कुमारः सः ॥५॥

तत ऊचुः—पुत्र ! यदि गम्यत एव तर्हि सभार्य एव गम्यताम् ।

कुमारः—यदाज्ञापयन्तु मातरः ।

तथैवाकरोत् सः । प्रणम्याङ्घ्रिस्पर्शं कृत्वा व्यचलत् । ततो दुंदुभिध्वनिरभूत् । तदैव द्वारमगात् । कुमारो भृत्येन अश्व आनीतस्तमारुरोह च ।

हयं तमारुह्य चलन्नृपात्मजः सखायमुच्चैःश्रवसो मरुच्चलम् ।
हरिर्यथाऽसौ शुशुभे शुभाननश्चलद्दृगन्तैश्च निरीक्षितो जनैः ॥६॥ [१६A]

चलन्नयं किञ्चिदुदञ्चितस्मितः शनैश्शनैर्वाचमुवाच सस्पृहम् ।
सेवा च राज्ञः सकलैर्विधेया ततः प्रजानां परिपालनं च ॥७॥

विशालनेत्रानुचरैः परावृतः स वीज्यमानश्चलचामरैर्मुहुः ।
कुमारनामा शुशुभे नृपात्मजो वियत् पतद्गङ्गझरैर्यथामरः ॥८॥

सितातपत्रं न यशः सुधांशुस्तं राजपुत्रं प्रसभं सिषेवे ।
उपार्जितं पूर्वमनेन पुण्यं जनेन तद्रक्षति सर्वतो हि ॥९॥

स रत्नचामीकरकुण्डलोल्लसत्कपोलदेशच्छुरितांशुराशिः ।
व्यरोचि राजन्यकुमारभास्वान् मणिप्रभाभिर्दिवसेश्वरो वा ॥१०॥

शिरोमणिर्भूषयतीव विश्वं रविर्भवेत् किं हृदि मे वितर्कः ।
कथं नु चक्षुःकमलानि लोके फुल्लन्ति दृष्ट्वा सततं जनानाम् ॥११॥ [१६B]

मुक्ताहारः किं नु वक्षःस्थलस्थस्ताराकारो भाति शोभैकशाली ।
गङ्गापातो नाकलोकादुपेतो यात्रासौख्यं भावि भूयो विधत्ते ॥१२॥

एवं स राजन्यकुमारवीरः कुमारशोभामगमत् सशक्तिः ।
अनेकरत्नाभरणात्तशोभः स पद्मपाणिर्हरिरेव साक्षात् ॥१३॥

सभारउष्ट्रश्चलदोष्ठवक्त्रः सरोषमेकं करिणं निरीक्ष्य ।
सयत्नपुंसा नितरां निरुद्धो भयेन मार्गे किल निष्पपात ॥१४॥

नितान्तभारेण निपीडितोऽपि तत्रापि रूढा वनिता हि काचित् ।
पुनश्च पश्चात् कशयापि ताडितो मार्गावरुद्धोऽश्वतरः पपात ॥१५॥

काचिच्चलन्ती चपलायताक्षी तदीयलावण्यमथो विलोक्य ।
जगाम तृप्तिं न जगाम तावन् मुमोह निश्वासततीरुवाह ॥१६॥

काचिन्निता [१७A] न्तं तमनङ्गबाणैर्दृगञ्चलैर्वीक्ष्य मनोभिरामम् ।
मुमोह बाला कलकण्ठनादैर्जगौ हतास्मीति ध्रुवं हतास्मि ॥१७॥

एवं स आहवकेतुः प्रत्यहं चलति स्म । ततो धर्मपुरं नाम नगरं प्राप । तदुपकण्ठं अवततार । ततो नगरदर्शनार्थं जना जग्मुः ।

द्वारदेशधृतहेमकुम्भकान् पत्रपुष्पफललाजमण्डितान् ।
दिव्यवामनयनाद्यलंकृतान् पश्यति स्म च गृहान् जनः सितान् ॥१८॥

अप्सरोभिरभितः सुखगीतं गीयते स्म नितरां श्रुतिसारम् ।
श्रूयते च किल तत्र जनौघैः स्वर्ग एव किमयं समवादि ॥१९॥

उच्चसद्मपङ्क्तयः शुभा सर्ववीथीषु लसन्ति सर्वतः ।
तेषु तत्र विलसन्ति केतवः किं नु गाधिसुतजन्यसिन्धवः ॥२०॥

परिखा नगरस्य सर्व [१७B] तः पृथिवीतो जलधिर्यथा भवेत् ।
किमु मज्जन्ति तरङ्गकैतवात् सततं तत्र सपत्नबुद्धयः ॥२१॥

गोपुराणि नगरस्य समन्तात् शृङ्गवन्ति कनकोज्ज्वलरत्नैः ।
उल्लसन्ति बहुशोभिकपाटैः स्पृशति शशिमण्डलमेतत् ॥२२॥

ततः पुण्यकीर्तिनामा राजा राजकुमारमिलापार्थं समागमत् । उभौ अपि सादरं मिलितौ । गजतुरगालङ्कारान् कुमारः समर्पितवान् । राजा किञ्चिद् गृहीत्वा पुनर्गेहमगात् । कुमारार्थं भोजनसामग्रीं नृपः प्रेषितवान् । आगतमालोक्याङ्गीकृतवान्, स्थापयतेति, तदा सर्वेषां सस्वादं भोजनं जातम् । राजकुमारस्य राजमन्दिरं प्रति गन्तुमिच्छा बभूव । चलति स्म ।

चलन्नसौ कुण्डलवान् किरीटी
दृष्टो जनैः पञ्चशरो हि साक्षात् ।
नेत्राञ्च [१८A] लैर्हन्ति विलोकयन् यं
का नाम बाला न मुमोह दृष्ट्वा ॥२३॥

काचिद् द्रष्टुं चक्षुषी अञ्जयन्ती काचित् पादौ क्षालयन्ती जगाम ।
काचित् कान्ता भूषणं भूषयन्ती काचित् केशान् शोषयन्ती चचाल ॥२४॥

काचिद् बाला द्वारदेशे स्थितासीत् काचिद्योषिन्मन्दिरस्था बभूव ।
काचिन् मार्गे सञ्चलन्ती मृगाक्षी दृष्ट्वा दृष्ट्वा तं न का या मुमोह ॥२५॥

गवाक्षेषु बालाः कृतास्या बभूवुः कुमारो विलोक्याह चन्द्राः किमेते ।
प्रकामं चलद् दृग्विलासैः सहासं मुखानीति सत्यावबोधं जगाम ॥२६॥

काश्चित्कान्ता माल्यवृष्टिं च चक्रुः काश्चित्तद्वल्लाजवृष्टिं वितेनुः ।
एवं पश्यन् राजमार्गं कुमारः प्रामोल्लासं राजगेहं विवेश ॥२७॥

राजा च कुमारमा [१८B] गतं श्रुत्वा झटित्यागत्याग्रे नीतवान्, तत्करं गृहीत्वानीय, राज्यासनोपरि स्थितौ जातौ । ततो राजा कुमारमवदत्, सम्यक् कृतमत्रागतं, राजकुमार म (त्व ?) दीयमेवेदं गृहं सर्वथात्र स्थातव्यं यतः ।

बहूनि किल मित्राणि वञ्चकानि धरातले ।
तन्मित्रं दुर्लभं लोके हितकारि विशेषतः ॥२८॥

तस्मान् मित्रं नु कर्त्तव्यं जगन्मित्रं वशं नयेत् ।
यत्र तत्र विधातव्यं कुमारेदं विनिश्चितम् ॥२९॥

कुमारः—महाराज ! सत्यं परन्तु तत्कार्यवशादेव ज्ञायते ।

मित्रामित्रद्वयं लोके ज्ञायते कार्यतो भृशम् ।
चुम्बकस्य यथा लोहो हीरकस्य यथा घनः ॥३०॥

उपकृतये तव चेतो जाने राजन् परं लोके ।
सौशील्यं तव भूयः कस्ते तुलनां समायाति ॥३१॥

अस्मिन्नूलोके धनम [१९A] र्जितं यैः शौर्येण राज्येन नृपैः प्रभूतम् ।
राजन् पुनः सज्जनपात्रभूते यदर्पितं तत् फलतां प्रयाति ॥३२॥

राजकुमारोक्तमिदं निशम्य सप्रसादमाह—

आहवकीर्ते ! अत्र भवद्भिः सर्वथा स्थेयं भवदीयमेव सर्वमिति कथयित्वा यथेच्छं मासिकमाह्निकं कृतवान् । वासाय गृहद्वयं च दत्तम् । तच्च राजपुत्रेण सादरमङ्गीकृत्य ससुखं तत्र च स्थितं । पुनरेकस्मिन् गृहे स्वयमतिष्ठत् द्वितीये च भार्या, सा च विकला कार्यानभिज्ञा दासी चाभिज्ञा तथैव सकलं गृहकृत्यं क्रियते स्म ।

गृहिणी यस्य गेहे ह्यसमर्था कार्यकरणे चेत् ।
तस्य गृहं किल नष्टं जीवितमपि तस्य दुःखदं भवति ॥३२॥

अतो राजपुत्रेण कदापि गृहे न गम्यते । राज [१९B] सेवापरो बभूव । तस्य व्ययाय प्रत्यहं प्रेष्यते स्मैका स्वर्णमुद्रा पुरुषेण केनचित् गत्वा दीयते तस्यैवमेकाब्दो गत पुरुषस्य ॥ एकदा रात्रौ कुमारस्त्रीभवने चौराः प्रविष्टास्ततः ते न किमपि पश्यन्ति स्म ।

चौराः—आः क्व वयमागता एतद्गृहे किमपि न दृश्यतेऽतोऽन्यगृहे प्रविश्यामः* ।

कुतस्तया कुमारपत्न्या यदशनार्थमपेक्ष्यं तदेव गृह्यते स्म वैश्यहट्टायां स्वर्णमुद्रा प्रेष्यते च ॥ ततश्चौरा एकस्य कुवेरनाम्नो वणिजो गृहं गतास्तत्र पश्यंति स्म तत्पुत्री स्वपिति । तत्र चौरैरिदं विचारितं सा कुमारवधूरत्र स्थापनीयेयं वणिक्पुत्री च पल्यं-कात्तत्रेति ॥ ते तथैवाकुर्वन् ॥ कुमारपत्नी वणिजो गृहे स्थापिता वणिक्पुत्री च कुमारगृहे तथै [२०A] व स्थापिता भूरिधनं गृहीत्वा गताश्च स्वगृहं । पुनः किं जातं तत्राह, सा वणिक्-

* प्रविशाम इति साधु पाठः ।

पुत्री रात्रौ तु ससुखं सुस्वाप प्रातरुदतिष्ठत् पश्यति स्म कुत्रागतास्मि केन नीतास्मि कस्य वा गृहे मरैवान्यस्य वाहमेव वान्या एव भवामि पुनः पुनरेवं शुशोच—

नानुकूलमदृष्टं मे प्रतिकूलं हि वर्त्तते ।
कुत आपतितं दुःखं प्रमाथि बलवच्च तत् ॥२३॥

यदिदं मम भावि सर्वथा तदभावीति कथं वदाम्यहम् ।
स्ववशे न हि वर्तते जनः परकृत्य पर एव वेत्तितत् ॥२४॥

भवतु तावत् किं भविष्यति सुदृढं निश्चित्य खट्वायामेव स्थिताऽभवत् न किञ्चित् कञ्चिदुवाच मुहूर्तं । ततः सर्वतोऽवलोक्य दासीमुवाच, हंजे, किं स्वपिषि, उत्तिष्ठ, जलमानयेति श्रुत्वोदतिष्ठत् प्रणनाम च सदन्त [२०B] धावनं जलमानीतं तयाचावश्यकं कृतं, कृत्वा च शय्यायामेव स्थित [T] प्रहस्योवाच, 'निपुणे ! स्नास्येऽहं भूरि जलमानीयतां' दासी–यदाज्ञापयति भवती ।

जलं तया भूरि चानीतं ततः सा मनसि कुमारपत्नी भूत्वा सस्नौ । वस्त्रालङ्कारान् परिदधौ नेत्रे अञ्जयित्वा ताम्बूलं च भुक्त्वा ससुखं स्थिताऽभवत् । द्र (द्र) व्यमग्रे भविष्यतीति । ततः स भृत्यो निपुणामाहूय स्वर्णमुद्रां दत्तवान् ॥ सा निपुणा गृहीत्वा गुणवतीं दत्त्वाऽग्रे ह्यतिष्ठत् जगाद च 'राजपुत्रि ! देह्याज्ञां स्वर्णमुद्रां वणिजं दत्त्वा प्रत्यहमशनार्थं यदानीयते तदानयामि ।' प्रहस्य गुणवत्युवाच 'निपुणे, वणिजमानय ।' सा तथैवाऽकरोत् ॥ ततो वणिगागतः ॥

गुणवती—निपुणे, वद वणिजं कति मु [२१A] द्रास्तव वसंति समीपे ता आनय, यावत् द्रव्यव्ययो जातस्तावत् गृहाण च ।'

वणिक् तथाकरोत् । ता आनीय गुणवतीमर्पितवान् । गुणवत्या व्ययभृता दत्ता अवशिष्टा गृहान्तः स्थापिता । निपुणां चावदत्, 'निपुणे ! वणिजं प्रेरय प्रतिमासमशनार्थमानयान्नादि । [सा] तथैवाऽकरोत् । स वणिक् घृततन्दुलादि सामग्रीमानीतवान् । पुना रसवतीकरणार्थमेकां ब्राह्मणीं गृहे स्थापयामास गृहं च सकलं लेपयामास धवलीचकार ॥

तदुत्तरं गुणवती निपुणामाह, 'अये, निपुणे राजकुमारमानय ॥ सांगीकृत्य जगाम, गत्त्वा च प्रणनाम, राजकुमार त्वामाह्वयति राजनन्दिनी विज्ञप्तिं च करोति अत्रानागतस्य भवत एक हायनो [२१B] गतः ।

कुमारः—निपुणे ! गच्छेदानीम् ।

सा पुनः परावृत्याह, नागच्छति कुमार इति।

गुणवती तां पुनः प्रेरयामास, गच्छानः हठात् कथं नागम्यत इति।

सा च पुनरागत्य विज्ञापयति, कुमार, गन्तव्यमेव तत्र सा मां हठात् प्रेरयत्यानयानयेति। गुणवत्या च राज्यासनं फेननिभा शय्या चायोजि प्रतीक्षा चागमनस्याकारि॥ ततः राजकुमारः किं जातमिति विचिन्त्य समागतो गृहान्तरे गतः। कुमारमागतमवलोक्य झटित्युत्थाय गुणवती प्रणनाम करसम्पुटं कृत्वा ह्यतिष्ठत्। कुमारस्तां विलोक्य सविस्मयो जातः। किमस्या जातमन्यैवेय बभूव॥ तथा—

तप्त-काञ्चन-वर्णाङ्गी चलन्नेत्राञ्चलाञ्चिता।
पूर्वं नैतादृशी दृष्टा कुतोऽयामित्यचिन्तयत्॥ ३५॥

कदापि [२१A] नेदृशी दृष्टा दृश्यतेऽन्यैव सा न हि।
किं जातमस्याश्चिन्तायां ममज्ज स नृपात्मजः॥ ३६॥

गुणवती प्रहस्याह—स्वामिन् किं सस्मितत्वेनावलोक्यते सर्वं अदृष्टकृतं भवति।

येनायं चतुराननो हि भगवान् लोकस्य कर्त्ता कृतः
येनासौ हरिरीश्वरस्त्रिजगतीपालो विभुर्निर्मितः।
संहर्तुं जगतीं हरस्त्रिनयनो येन व्यधायि प्रभु—
र्दैवं तन्न निवारितुं प्रभवति ब्रह्मेति यद्गीयते॥ ३७॥

अदृष्टं कुरुते नित्यमदृष्टे नैव नश्यति।
अदृष्टजन्यं सर्वं हि राजसूनो न चिन्तय॥ ३८॥

गुणवत्योक्तं सर्वमाकर्ण्य तत्पाणी गृहीत्वा तया सह राज्यासने स्थितोऽभवत् पुनस्तौ प्रसन्नमनसा चैकस्मिन् पात्रे भोजनं चक्रतुः ससीधुपानम्। पुनः शयने स्थितौ॥ [२२B]

रूपौदार्यं गुणौदार्यं शीलौदार्यं विलोक्य सः।
गुणवत्या नृपसुतः प्रेमबद्धोऽभवत्तदा॥ ३९॥

दृगञ्चलैः कामशरैः प्रविद्धचित्तौ नितान्तं हृतचित्तवृत्ती।
परस्परं जघ्नतुरम्बुजास्यौ तौ दम्पती बद्धविलासहासौ॥४०॥

निनाय सकलां रात्रिं गुणवत्या कुमारकः।
मेने कृतार्थमात्मानं लोकोत्तरसुखेन च॥

तत उभावपि जातानन्दावस्थायावश्यकं चक्रतुः, स्नात्वा भुक्त्वा च ताम्बूलमभक्षताम्। ततः कुमार आज्ञापुरस्सरेण चलति स्म राजद्वारं गत्वा प्रणमति स्म राजकार्यं चकार। एवं कार्यकारिणः कुमारस्य बहूनि दिनानि गतानि। एकदा रात्रौ शिवायोगिनी रौति स्म श्रुत्वाह च राजा, कः को ऽत्र ?

कुमारः—आहवकीर्तिनामाऽहमस्मि।

रा [२३A] जा–आहवकीर्ते गच्छ क उच्चै र्भाषते रौतीति च दृष्ट्वा पुनर्भेटित्यागमिष्यसि।

राजकुमारोऽङ्गी कृत्यागच्छत् सखड्गपाणिः।

विभेति नो भीः पुरुषः कदाचिद्बध्वा स मध्यं सुदृढं चचाल।
सखड्गपाणिः ससुखं प्रसह्य मनो दृढं यस्य स शूरवीरः ॥ ४२ ॥

तत्पश्चाद् राजा चाचलद् गुप्त एव।

कुमारो गत्वाऽपृच्छत्—कस्त्वं भोः।

शिवायोगिन्यहमस्मि।

कुमारः—किमर्थमिहागत्य रौषीति श्रुत्वाह–'एतन्नगराधिपस्य श्वः कालो भविष्यतीति रौमि।"

कुमारः—कश्चिदुपायोऽस्ति येनास्य मृत्युनिवर्तेत ?

योगिनी—तव गृहे बालो जातस्तद्गलरुधिरं पिबामि चेत्तदा निवर्त्तेत।

कुमारः—भवत्वेवमेव करिष्ये।

ततः कुमारः स्वगृहमगात ॥ तत्रोत्सवं [२३B] ददर्श ॥

गायन्ति गीतं वरयोषितः क्वचिन्नृत्यन्ति नानाप्सरसस्तु गेहे।
सुखं न दुःखं च कुमार आगात स्थिराणि चेतांसि त एव धीराः ॥४३॥

त्यज्यते किं न विद्वद्भिर्गृह्यते किं न दुर्जनैः।
धर्मात्मा न चलेद्धर्माद्धर्मे हि कृतनिश्चयः ॥ ४४ ॥

राजकुमारमागतं दृष्ट्वा सर्वा उत्थायाशिषं ददुः, चिरंजीयात् राजकुमार ते कुमारः, सर्वास्ताः प्राणम्य सूतिकासद्म प्रविष्टस्तमागतमालोक्य गुणवती प्रणम्याह स्वागतं

कुमारः कृताञ्जलिरुवाच योगिन्या यदुक्तं वचः। ततो गुणवती प्रहस्योवाच "महाराजस्यैवं कृते प्राणरक्षा स्यात् किमतः परम् !"

कुमारः—तर्हि बालं देहि ।

गुणवती—नेदं भवदीयं कृत्यं किन्तु मदीयमेव स्यात्तदा सा समुखमकरोत् [२४ A] तदोभावप्यचलताम् ॥

तत्र गत्वा समर्पयतस्तदा सा [योगिनी] तयोः सत्यमवलोक्य जगाद, 'गुणवति, पुत्रं गृहाण, गृहं गच्छाहं युवयोरनेन धैर्येण प्रसन्नास्मि राजायं चिरञ्जीयात् बालश्चाय ते। तत उभावपि प्रणम्य च गृहं गतौ बालं शय्यायां स्थापयामासतुर्गुणवतीकुमारौ, गायकेभ्यो नर्त्तकेभ्यः स्वस्तिवाचनिकेभ्यो भूरि द्रव्यं दत्त्वाऽनन्दं जग्मतुः। पुनः कुमारो राजमन्दिरं प्राप। तथैवातिष्ठत्। राजा प्रथममेवागत्य सुष्वाप ।

ततः प्रभातवेलायां वन्दिनः—

जातोऽयं नरलोकपाल ! समयः प्रातः प्रबोधस्य ते।
द्वारे सन्ति भटा रणोत्सवनटाः कर्त्तुं प्रणामं प्रभो !

कार्यं सर्वमिदं कुरुष्व भगवन् राज्यप्रजापालनम्।
सूता मागधवन्दिनश्च सततं कीर्तिं [२५ B] जगुर्भूपते: ॥ ४५ ॥

ततः प्रबुद्धो राजा देवीमाजुहाव। सा चागत्य प्रणम्य स्थिता विज्ञप्तिं चकार "किमर्थं महाराजेनाहूतास्मि ? ॥"

राजा—देवि ! राजकुमारेणानेनैतादृशं कृतं तत्प्रत्युपकारं कर्त्तुं मन्निकटे किमपि नास्ति यद्देयमस्मै ।

राज्ञी—एवं चेदेतस्मै कन्या देयातःपरं किं देयं भवति ?

राजा— देवि ! सम्यग् विचारितं योग्यमिदम्।

पुनर्बहिरागतस्तं वेचमुप्रणेसः पुरोहितस्य सस्मार। पुरोहितश्चागत्याशिषं ददौ, 'स्वस्ति ते महाराज ! किमर्थमाहूतोऽस्मि ?"

राजा—कुमारं कन्यां दातुमिच्छामि तिलकमेतस्य कुरु।

पुरोहितः—भवतु महाराज सम्यगिदम्।

स तथा सम्पादितवान्।

कुमारः—महाराजाऽहं भवतां भृत्योऽस्मि नैतद्योग्यं मम।

राजा—तवैव योग्य [२६ A] मिदं, गृहाण।

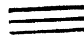
कुमारः—यद्रोचते भवते, इति अङ्गीकृत्य गृहमगात्। गुणवतीं सकलं वृत्तान्तं निवेदितवान् ॥

गुणवती प्रहस्याह 'किमतः परं गृह्णाणेदानीमेव गत्वा'। कुमार आगत्य जग्राह। लक्षमुद्रारत्नालङ्कारा दश गजा दत्ताः। भूयसीं दक्षिणां ब्राह्मणेभ्योऽदात्। तदुत्तरं विवाहो जातः, सुखमुभयत्र भूरि जातः। कुमारो विदायं गृहीत्वा स्वगृहं प्रति चचाल। गत्वा पितुश्चरणौ पस्पर्श ॥ सुखं भूयात् सर्वत्र ॥

रत्नेशः कृतपुण्यरत्ननिचयो रत्नाकरश्चापर—
स्तज्जातः शशिसन्निभः कृतमहादानः कुबेरो यथा।
दिव्यौदुम्बरवंशविश्वविदितः श्रीविश्वनाथः स्वयं
श्रीमान् भट्टसदाशिवक्षितिपतिर्जीयात् सहस्रं समाः ॥२५॥ [B]

तातो यस्य समस्तशास्त्रनिपुणः श्रीनन्दरामाभिधो
माता यस्य च पौष्करीति विदिता पत्यर्चने तत्परा।
वासो देवकलीपुरे निगदितो यत्रास्ति कालेश्वरो
भोलाना इति प्रसिद्धिमगमत् तत्काव्यमेतच्छुभम् ॥ ४७ ॥

श्रीरत्नेशतनयभट्टश्रीसदाशिवप्रीतये भोलानाथकृतौ कर्णकुतूहले भङ्गलं नाम तृतीयं कुतूहलं जातम् ॥ ३ ॥ शुभमस्तु ॥ श्रीः ॥



महाकवि-भोलानाथ-विरचितं

श्रीकृष्णलीलामृतम्

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यः सर्वत्र महीतलेऽस्मिन् विदितो देवेन कृष्णात्मना
स्वीयेनैव करेण पुष्पसदृशः प्रस्थापितश्छत्रवत् ।
गोपीगोपजनाश्रयावनपरो भूभृन्नतापाश्रयः
सोऽयं वः किल कान्तिवर्द्धनपरो गोवर्द्धनो वर्द्धताम् ॥१॥
नाम्ना श्रीरामशर्मा हरिचरणरतिप्राप्तसत्कीर्तिकर्मा
तद्ध्यानाप्तावबोधोऽखिलभुवनतलप्राप्ततत्त्वावबोधः ।
प्राप्ता विद्यानवद्या हृदि यजनतया यस्य देवस्य भूम्नः
साक्षाद् गोवर्द्धनोऽसौ हरिरचलतया वर्त्ततां सर्वदान्तः ॥२॥
गोवर्द्धनधराधीश ! गोपगोपीजनाश्रय !
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नरा यत्रामरा इव ॥३॥
गोवर्द्धनधरं नाथं यशोदानन्दनन्दनम् ।
प्रणौमि कृष्णबालं तमबालं पुरुषोत्तमम् ॥४॥
व्रजाङ्गनानां हृदयापहारि यत् तदीयरूपं कुसुमायुधाधिकम् ।
अहं प्रवृत्तोऽस्मि च तस्य वर्णने मदीयवाचो हसनं भविष्यति ॥५॥
तथाप्यहं तद्वचनेन पूततां दृढं गमिष्यामि न चेदमन्यथा ।
अतः प्रवृत्तोऽस्मि तदीयवर्णने संभाव्यतां नैव मदीयदूषणम् ॥६॥
जन्माद्यस्य यतः सतां सुकृतिनां स्वर्गापवर्गौ यतो
यत्सेतुर्जगतां भवेद् यदखिलं ब्रह्मेति निष्कर्षतः ।
भक्तानां हितहेतवे यदभवत् पूर्णेन्दुबिम्बाननः
कृष्णः सत्यमनन्तमद्वयमसौ चित्ते स्थिरीभूयताम् ॥७॥
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं कृष्णायामिततेजसे ।
पूर्णेन्दुवदनानन्दगृहीताखिलचेतसे ॥८॥
मयूरपिच्छमुकुटः कृष्णः कनककुण्डलः ।

वनमालोल्लसद्वक्षा वेणुनादविभूषितः ।
गोपीजनमनोहारी कृष्णः स हृदि वर्त्तताम् ॥१०॥

गोचारणरतो नित्यं नित्यं भक्तजनाश्रयः ।
गोवर्द्धनस्य नाथोऽयं सदा मे हृदि वर्त्तताम् ॥११॥

यदस्य जन्मजनितं सुखं गोपव्रजौकसाम् ।
कोऽपि तं नैव जानाति देवानामपि दुर्लभम् ॥१२॥

जगत्त्रयविभुर्यश्च ब्रह्माद्या यस्य मूर्त्तयः ।
स एवाजनि नन्दस्य गेहे साक्षाद्धरिः स्वयम् ॥१३॥

शकटस्य च यो हन्ता गोपीनां हर्षवर्द्धनः ।
स च देवः परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधानतः ॥१४॥

पूतनामृत्युमासाद्य यतो मोक्षमवाप सा ।
स्मरणीयोऽनिश देवः स दुष्टेऽपि कृपानिधिः ॥१५॥

तृणावर्त्तो हतो येन तृणवद्बालरूपिणा ।
मातोरसि लुठन्तं तमादायानन्दमाययौ ॥१६॥

बालमव्यक्तकर्माणं वालोपेतं विलोक्य तम् ।
बकस्तुण्डेन जग्राह तरसा क्रोधनो बली ॥१७॥

दहन्तमग्निवत्तुण्डं स तत्याजासुरद्रुहम् ।
गृहीत्वा तं स तुण्डेन द्विधाचक्रे सुरोत्तमः ॥१८॥

चारयन्तं सरित्तीरे वत्सान् बालमरिद्रुहम् ।
वत्सासुरोऽभ्यगात्तत्र ज्ञात्वा गोपालनन्दनम् ॥१९॥

गृहीत्वा परपादौ तं भ्रामयित्वा व्यपोथयत् ।
हरिः शिलायां स तदा गतासुरभवद्बकः ॥२०॥

क्षेपयन्तं विषाणाभ्यां सरित्तीरमभीरुवत् ।
ज्ञात्वा वृषासुरं कृष्णो हन्तुमभ्यागतः पुरः ॥२१॥

गृहीतोत्खातशृङ्गाभ्यां व्यहनत्तं रुषा हरिः ।
गतासुरभवत् सोऽथ पुष्पवृष्टिरभूद्दिवः ॥२२॥

अथो जिगमिषा तेषां जाता वृन्दावनं प्रति ।
मृत्युना किल भीतानां गोपानां कृष्णचेतसाम् ॥२३॥

आरुह्य शकटान् जग्मू रामकृष्णपुरोगमाः ।
गायन्त्यः कृष्णचरितं गोप्यः शुशुभिरेऽध्वनि ॥२४॥

ततो वृन्दावनं प्राप्ताः चक्रीकृत्य च सर्वतः ।
शकटान् न्यवसन् सर्वे मुदा प्राप्तश्रियो वने ॥२५॥

रामकृष्णावुभौ तत्र रेमाते परया मुदा ।
गोपाः सबालाः सस्त्रीका गावो वत्साश्च रेमिरे ॥२६॥

चलत्तरङ्गनिचया कदम्बतरुशोभिता ।
प्रफुल्लेन्दीवरश्यामा यमुना तत्र राजते ॥२७॥

कृष्णः कमलपत्राक्षो विजहार सरित्तटे ।
गोपीनां वेणुनादेन व्यहरत् सुमना मनः ॥२८॥

एकदा सहितो बालैर्दूरं गाश्चारयन् गतः ।
पीतवासा घनश्यामो यत्रास्ते कालियः फणी ॥२९॥

विषाग्निना ज्वलद्वारि सफेनं बुद्बुदायते ।
तद्वायुस्पर्शतो व्योम्नः पतन्ति विहगा ह्रदे ॥३०॥

परिधानं दृढं बध्वा कदम्बमधिरुह्य सः ।
पपातोपरितः कृष्णः स यत्रास्ते महानहिः ॥३१॥

कूर्दनोत्थजलेनाशु प्लावितास्तटभूमयः ।
विहरन्तं हरिं दृष्ट्वा नागपत्न्योऽवदन् रुषा ॥३२॥

गच्छ गच्छाशु रे बाल दन्दशूकोऽस्ति दुष्टधीः ।
तरसा तत उत्थाय भोगी भोगेन चावृणोत् ॥३३॥

शरीरशक्त्या निःसार्य गृहीत्वा भ्रामयद्धरिः ।
क्षीणशक्तिं परित्यज्य तत्फणासु ननर्त्त सः ॥३४॥

तत्थं तत्थं ततस्तत्थं तत्थतत्तत्थतस्तु तत् ।
ततं तेन ततं तेन मृदङ्गध्वनितोऽभवत् ॥३५॥

नृत्यति स्म हरिः साह्लादहेमूर्द्धसु दर्पहा ।
नताननः स्तुवन्नासीद्देवदेवं जगत्पतिम् ॥३६॥

तव पादतलाघातैः पूतोऽस्मि भगवन् हरे !
गङ्गाया उद्भवो याभ्यां नतोऽस्मि प्रणतोऽस्मि तौ ॥३७॥

जगज्जनिरभूद्यस्मात्तन्मध्ये दुष्टधीरहम् ।
पालनीयोऽस्मि भवता मदीय इति बुद्धितः ॥३८॥

नागपत्न्योऽस्तुवन् देवं दण्डवत् पतिताः पुरः ।
अश्रुमुख्यो नतग्रीवाः कृताब्जकरसम्पुटाः ॥३९॥

नमस्ते जगन्नाथ भूयो नमस्ते मुखेन्दो प्रसीदाशु भृत्ये नमस्ते ।
वयं दासदास्यो भवामस्त्वदीयाःत्वदीयाङ्घ्रिपद्मं नतास्मो नतास्मः ॥४०॥

इति तासां वचः श्रुत्वा प्रसन्नोऽभूज्जगत्पतिः ।
गच्छाशु स्वालयं नाग न भयं ते भविष्यति ॥४१॥